दृष्टि The Vision

RAS Series : Book-4

राजव्यवस्था, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, लोक प्रशासन एवं प्रबंधन

RAS/RTS के विशेष संदर्भ सहित

(पूर्णतः नवीन पाठ्यक्रम पर आधारित पुस्तक)

द्वितीय संस्करण

RAS/RTS सहित अधीनस्थ सेवाओं एवं
पटवार, एलडीसी, टीचर्स ग्रेड (I & II) सुपरवाइज़र,
सब-इंस्पेक्टर सहित अन्य एकदिवसीय परीक्षाओं के लिये संपूर्ण पुस्तक

अब घर बैठे कीजिये
आई.ए.एस. की तैयारी
क्योंकि हम आ रहे हैं
आपके घर

हिंदी साहित्य

द्वारा- डॉ. विकास दिव्यकीर्ति

मोड : ऑनलाइन / पेन ड्राइव

IAS परीक्षा में सर्वाधिक अंकदायी वैकल्पिक विषय 'हिंदी साहित्य' पढ़िये सिविल सेवा जगत के सबसे लोकप्रिय शिक्षक डॉ. विकास दिव्यकीर्ति से। इस कोर्स में शामिल हैं 157 रोचक कक्षाएँ, जिनमें IAS का संपूर्ण पाठ्यक्रम एकदम आधारभूत स्तर से शुरू करते हुए पढ़ाया गया है। इन कक्षाओं को गंभीरता से करने और क्लास नोट्स (जो आपके पास भेजे जाएंगे) को पढ़ने के बाद आपको कुछ भी अतिरिक्त करने की आवश्यकता नहीं होगी। इन कक्षाओं से परीक्षा की तैयारी तो होगी ही, साथ ही जीवन के प्रति सुलझा हुआ नज़रिया भी विकसित होगा।

यह कोर्स ऑनलाइन मोड (ऐप) के अलावा पेन ड्राइव तथा टैबलेट मोड में भी उपलब्ध है। यदि आप इंटरनेट नेटवर्क की कमी या किसी अन्य कारण से यह कोर्स मोबाइल फोन की बजाय लैपटॉप/कंप्यूटर या टैबलेट पर करना चाहते हैं तो कृपया ऐप के होम पेज पर जाकर पेनड्राइव कोर्स या टैबलेट कोर्स की टैब पर क्लिक करें।

एडमिशन प्रारंभ

कक्षाओं की गुणवत्ता को परखने के लिये डेमो वीडियोज़ हमारे यूट्यूब चैनल Drishti IAS की प्लेलिस्ट Online Courses में देखें

ऑनलाइन कोर्स से जुड़ी हर जानकारी के लिये हमारी वेबसाइट www.drishtiias.com या Drishti Learning App पर FAQs सेक्शन देखें

इस कोर्स से संबंधित किसी भी अतिरिक्त जानकारी के लिये 9311406440-41 नंबर पर सीधे बात या मैसेज करें

हिंदी साहित्य : कोर्स की विशेषताएँ

1. UPSC के पाठ्यक्रम के लिए 400+ घंटे की कक्षाएँ।
2. UPPCS एवं BPSC के विशिष्ट टॉपिक्स के लिये 30-30 घंटे की पृथक कक्षाएँ।
3. प्रत्येक कक्षा को 3 बार देखने की सुविधा, ताकि आप टॉपिक को पढ़ने के बाद रिवीज़न भी कर सकें।
4. हर क्लास में उस टॉपिक से IAS, PCS में पूछे गए और अन्य संभावित प्रश्नों का विस्तृत अभ्यास।
5. स्टेट-ऑफ-द-आर्ट कैमरा और साउंड क्वालिटी, जो क्लास के अनुभव को एकदम वास्तविक जैसा बनाती है।
6. पाठ्यक्रम की टेक्स्ट बुक्स व नोट्स भी इस कार्यक्रम में शामिल, जिनके अलावा किसी अन्य अध्ययन सामग्री की आवश्यकता नहीं।

अधिक जानकारी के लिये अपने एंड्रॉयड फोन पर आज ही इंस्टॉल करें

Drishti Learning App

दृष्टि आई.ए.एस. (दिल्ली) :
641, प्रथम तल, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली-09
☎ 87501 87501

दृष्टि आई.ए.एस. (प्रयागराज) :
शंकर विला मार्ग, निकट पत्रिका चौराहा, सिविल लाइन्स, प्रयागराज
☎ 87501 87501

RAS Series : Book-4

राजव्यवस्था, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, लोक प्रशासन एवं प्रबंधन

(RAS/RTS के विशेष संदर्भ सहित)

दृष्टि पब्लिकेशन्स

641, प्रथम तल, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-47532596, 87501 87501

Website: www.drishtiias.com
E-mail : booksteam@groupdrishti.com

शीर्षक : राजव्यवस्था, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, लोक प्रशासन एवं प्रबंधन

लेखक : टीम दृष्टि

द्वितीय संस्करण- अगस्त 2021

मूल्य : ₹ 480

प्रकाशक

VDK Publications Pvt. Ltd.
(दृष्टि पब्लिकेशन्स)
641, प्रथम तल,
डॉ. मुखर्जी नगर,
दिल्ली-110009

विधिक घोषणाएँ

- इस पुस्तक में प्रकाशित सूचनाएँ, समाचार, ज्ञान एवं तथ्य पूरी तरह से सत्यापित किये गए हैं। फिर भी, यदि कोई जानकारी या तथ्य गलत प्रकाशित हो गया हो तो प्रकाशक, संपादक या मुद्रक उससे किसी व्यक्ति-विशेष या संस्था को पहुँची क्षति के लिये ज़िम्मेदार नहीं है।
- हम विश्वास करते हैं कि इस पुस्तक में छपी सामग्री लेखकों द्वारा मौलिक रूप से लिखी गई है। अगर कॉपीराइट उल्लंघन का कोई मामला सामने आता है तो प्रकाशक को ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जाएगा।
- सभी विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायिक क्षेत्र में होगा।
- **© कॉपीराइट:** VDK Publications Pvt. Ltd. (दृष्टि पब्लिकेशन्स), सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का प्रकाशन अथवा उपयोग, प्रतिलिपीकरण, ऐसे यंत्र में भंडारण जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो या स्थानांतरण, किसी भी रूप में या किसी भी विधि से (इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या किसी अन्य प्रकार से) प्रकाशक की पूर्वानुमति के बिना नहीं किया जा सकता।
- एम.पी. प्रिंटर्स, बी-220, फेज़-2, नोएडा (उत्तर प्रदेश) से मुद्रित।

अनुक्रम

खंड-A: भारत एवं राजस्थान की राजव्यवस्था

1. राजव्यवस्था : एक परिचय 3 – 13
2. भारतीय संविधान : एक परिचय 14 – 30
3. संविधान की प्रस्तावना 31 – 34
4. संघ और उसका राज्यक्षेत्र 35 – 49
5. नागरिकता 50 – 57
6. मूल अधिकार 58 – 91
7. राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांत 92 – 96
8. मूल कर्त्तव्य 97 – 99
9. संघ की कार्यपालिका 100 – 118
10. राज्य कार्यपालिका 119 – 138
11. संघीय विधायिका 139 – 174
12. राज्य विधायिका 175 – 194
13. आपात्कालीन उपबंध 195 – 201
14. भारत की न्यायपालिका 202 – 239
15. संघवाद एवं केंद्र-राज्य संबंध 240 – 255
16. पंचायती राज एवं नगरीय स्वशासन संस्थाएँ 256 – 286
17. संविधान का संशोधन 287 – 292
18. भारत में लोकतांत्रिक राजनीति 293 – 304
19. लोक सेवाएँ 305 – 315
20. संसदीय वित्तीय नियंत्रण एवं वित्तीय समितियाँ 316 – 321
21. लोक नीति एवं अधिकार 322 – 330
22. राजस्थान की राज्य राजनीति 331 – 337
23. राजनीतिक गत्यात्मकताएँ 338 – 347
24. संवैधानिक, सांविधिक, गैर-सांविधिक और विभिन्न अर्द्ध-न्यायिक निकाय 348 – 370

खंड-B: अंतर्राष्ट्रीय संबंध

25. अंतर्राष्ट्रीय संबंध एवं कुछ महत्त्वपूर्ण संकल्पनाएँ 3 – 21
26. शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था 22 – 25
27. संयुक्त राष्ट्र एवं उसकी अन्य महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ 26 – 33
28. क्षेत्रीय संगठन 34 – 44
29. अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद एवं पर्यावरणीय मुद्दे 45 – 53
30. भारत की विदेश नीति 54 – 60
31. भारत का अन्य देशों के साथ संबंध 61 – 73
32. एशिया में भू–राजनीतिक एवं रणनीतिक विकास 74 – 84

खंड-C: लोक प्रशासन एवं प्रबंधन

33. लोक प्रशासन 3 – 14
34. निजी प्रशासन 15 – 17
35. नवीन लोक प्रशासन 18 – 20
36. लोक प्रशासन के सिद्धांत 21 – 34
37. प्रशासनिक अवधारणाएँ 35 – 39
38. संगठन एवं उनके सिद्धांत 40 – 55
39. प्रबंधन एवं नवीन लोक प्रबंधन 56 – 66
40. विकास प्रशासन एवं तुलनात्मक लोक प्रशासन 67 – 73
41. भारत में प्रशासन पर नियंत्रण 74 – 80
42. लोक प्रशासन के अन्य आयाम 81 – 99
43. राजस्थान में प्रशासनिक ढाँचा एवं संस्कृति तथा ज़िला प्रशासन 100 – 111

1 राजव्यवस्था : एक परिचय
(Polity : An Introduction)

'राज्य' राजव्यवस्था से जुड़ी सबसे प्राथमिक अवधारणा है। यूँ तो 'राज्य' शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रांतों, जैसे- राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ आदि को सूचित करने के लिये होता है, परंतु इसका वास्तविक अर्थ किसी प्रांत से न होकर किसी समाज की 'राजनीतिक संरचना' से होता है। वस्तुत: यह एक अमूर्त अवधारणा है अर्थात् इसे बौद्धिक स्तर पर समझा जा सकता है, किंतु देखा नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ- भारत सरकार, राज्य सरकारें, न्यायापालिका, विधायिका, नौकरशाही से जुड़े अधिकारी आदि संबंधी समग्र संरचना ही 'राज्य' कहलाती है।

किसी भी 'राज्य' के होने की शर्त है कि उसमें निम्नलिखित चार तत्त्व विद्यमान हों-

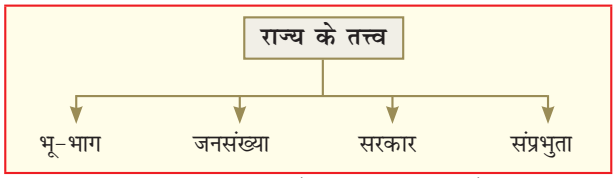

- **भू-भाग:** एक ऐसा निश्चित भौगोलिक प्रदेश होता है जहाँ उस राज्य की सरकार अपनी राजनीतिक क्रियाएँ करती है।
- **जनसंख्या:** राज्य के भू-भाग पर निवास करने वाला एक ऐसा जनसमुदाय होना चाहिये, जो राजनीतिक व्यवस्था के अनुसार संचालित होता हो।
- **सरकार:** सरकार एक या एक से अधिक व्यक्तियों का वह समूह है, जो व्यावहारिक स्तर पर राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करता है
- **संप्रभुता या प्रभुसत्ता:** संप्रभुता से तात्पर्य है कि राज्य के पास अर्थात् उसकी सरकार के पास अपने भू-भाग और जनसंख्या की सीमाओं के भीतर कोई भी निर्णय करने की पूरी शक्ति होनी चाहिये तथा उसे किसी भी बाहरी और भीतरी दबाव में निर्णय करने के लिये बाध्य नहीं होना चाहिये।

राज्य के ये चारों तत्त्व अनिवार्य हैं, वैकल्पिक नहीं। इन तत्त्वों में से किसी एक भी तत्त्व का अभाव होने पर 'राज्य' की अवधारणा निरर्थक हो जाती है। सरकार नामक तत्त्व का जहाँ तक प्रश्न है तो यह राज्य की व्यावहारिक एवं मूर्त अभिव्यक्ति है। संप्रभुता राज्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यकता क्यों है? (Why Political System is Required?)

कुछ लोग मानते हैं कि मनुष्य को राजनीतिक व्यवस्था की ज़रूरत है ही नहीं। राजनीतिक व्यवस्था तो मनुष्य के इतिहास की गलतियों का एक परिणाम है। यदि सारे मनुष्य समझदारी और पारस्परिक विश्वास से काम करें तो राजनीतिक व्यवस्था की ज़रूरत अपने आप खत्म हो जाती है। ऐसा मानने वालों में कार्ल मार्क्स तथा अन्य मार्क्सवादी विचारक तो थे ही, स्वयं महात्मा गांधी भी मानते थे कि जब समाज के प्रत्येक सदस्य को 'आत्मिक उन्नति' का पर्याप्त अवसर मिलेगा तो राजनीतिक व्यवस्था की ज़रूरत नहीं रहेगी।

यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि आज के समय में राजनीतिक व्यवस्था की भूमिका काफी ज़्यादा बढ़ गई है। इतना ही नहीं, आज की राजनीतिक व्यवस्था सिर्फ कानून का पालन करवाने तक सीमित नहीं है, अब उसने लोक-कल्याणकारी राज्य का रूप धारण कर लिया है और समाज के सभी वर्गों को स्वतंत्रता, समानता और न्याय उपलब्ध कराना अब उसकी ज़िम्मेदारी हो गई है।

जहाँ तक भारत में राजनीतिक प्रणाली का प्रश्न है, इसकी आवश्यकता को कई स्तरों पर महसूस किया जा सकता है, जैसे-

- भारत में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया अभी चल रही है।
- भारत की आंतरिक सुरक्षा के समक्ष अभी कई चुनौतियाँ हैं, जैसे- आतंकवाद, नक्सलवाद, अलगाववाद इत्यादि।
- भारत एक कल्याणकारी राज्य है और यह वंचित वर्गों को आरक्षण तथा सामाजिक न्याय जैसी नीतियों के माध्यम से समानता की स्थिति में लाने के लिये गंभीर प्रयास कर रहा है।
- भारत में विभिन्न हित-समूह रहते हैं, जिनके बीच अपने हितों को लेकर टकराव होना स्वाभाविक है। इन हितों में सामंजस्य करते हुए उचित कानूनों के निर्माण के लिये संसद की ज़रूरत है, जबकि ऐसे विवादों का न्यायिक समाधान करने के लिये एक सशक्त और सुलझी हुई न्यायपालिका भी ज़रूरी है।
- भारतीय समाज तीव्र सामाजिक परिवर्तनों के दौर से गुज़र रहा है, जिसके कारण वंचित वर्ग अपने अधिकारों की मांग बुलंद कर रहे हैं। इससे समाज के वे तबके असहज हैं, जो पुरानी व्यवस्था में लाभकारी स्थिति में थे। ये परिवर्तन स्वाभाविक तौर पर तनावों को जन्म देते हैं, जो कभी-कभी दलितों तथा स्त्रियों के विरुद्ध होने वाले अत्याचारों के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

शासन के अंग (Organs of Government)

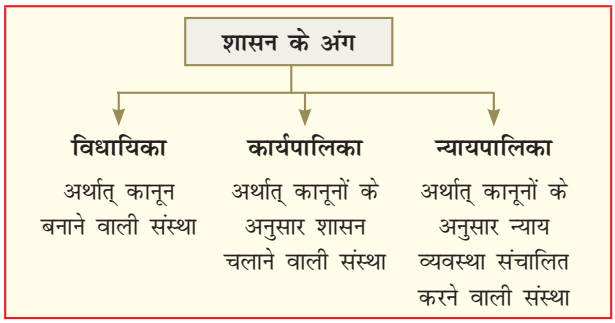

2 भारतीय संविधान : एक परिचय
(Indian Constitution : An Introduction)

संविधान नियमों-उपनियमों का एक ऐसा लिखित दस्तावेज़ होता है, जिसके अनुसार सरकार का संचालन किया जाता है। यह देश की राजनीतिक व्यवस्था का बुनियादी ढाँचा निर्धारित करता है। संविधान राज्य की विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की स्थापना, उनकी शक्तियों एवं दायित्वों का सीमांकन तथा जनता और राज्य के मध्य संबंधों को विनियमित करता है।

प्रत्येक संविधान उस देश के आदर्शों, उद्देश्यों व मूल्यों का दर्पण होता है। संवैधानिक विधि देश की सर्वोच्च विधि होती है तथा सभी अन्य विधियाँ इसी पर आधारित होती हैं। भारतीय संविधान एक जड़ दस्तावेज़ नहीं है बल्कि यह परिवर्तनशील है, जिसमें ज़रूरत पड़ने पर संशोधन भी किया जा सकता है, जिससे इसकी प्रासंगिकता बनी रहती है।

संविधान सभा तथा संविधान का निर्माण
(Constituent Assembly and the Making of Constitution)

आमतौर पर किसी भी प्रभुसत्तासंपन्न लोकतांत्रिक देश में उसके संविधान के निर्माण का कार्य एक जनप्रतिनिधि संस्था द्वारा किया जाता है, जो संविधान के विभिन्न पक्षों, उद्देश्यों, प्रावधानों आदि पर विचार करती है तथा संविधान बन जाने के बाद उसे अंगीकार भी करती है। इस प्रकार की संस्था को 'संविधान सभा' कहते हैं। भारत का संविधान बनाने के लिये ऐसी सभा का निर्वाचन जुलाई-अगस्त 1946 में हुआ था।

संविधान सभा की मांग
(Demand for the Constituent Assembly)

भारत में संविधान सभा के सिद्धांत का दर्शन सर्वप्रथम लोकमान्य तिलक के निर्देशन में निर्मित स्वराज विधेयक (1895) में दिखता है। 1922 में महात्मा गांधी ने स्पष्ट कहा कि "भारत का संविधान भारतीयों की इच्छा के अनुसार निर्मित होगा" तथा 1924 में मोतीलाल नेहरू ने संविधान सभा की मांग ब्रिटिश सरकार के समक्ष रखी। इन प्रयासों के बावजूद औपचारिक रूप से संविधान सभा के लिये विचार का प्रतिपादन एम.एन. राय ने 1934 में किया, जिसे लोकप्रिय बनाने और मूर्त रूप देने का कार्य 1938 में जवाहरलाल नेहरू ने किया। कॉन्ग्रेस द्वारा भी समय-समय पर संविधान सभा की मांग को उठाया गया। स्वाधीनता संग्राम के दौरान भारत के नेताओं ने लगातार इस बात की मांग की थी कि भारत के स्वतंत्र होने पर भारत की जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संविधान सभा द्वारा देश के संविधान का निर्माण किया जाना चाहिये। शुरू में अंग्रेज़ सरकार इस पर सहमत नहीं थी किंतु स्वाधीनता संग्राम के अंतिम दौर में (दूसरे विश्वयुद्ध की शुरुआत के समय) उसे स्वीकार करना पड़ा कि भारत का संविधान भारतवासी ही तैयार करेंगे। 1942 में ब्रिटिश सरकार के कैबिनेट मंत्री सर स्टैफर्ड क्रिप्स द्वारा प्रस्तुत 'क्रिप्स मिशन योजना' के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार ने आश्वासन दिया कि "भारत में एक निर्वाचित संविधान सभा होगी, जो युद्ध के बाद भारत का संविधान तैयार करेगी।" किंतु मुस्लिम लीग ने क्रिप्स प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उसकी मांग थी कि भारत को दो स्वायत्त हिस्सों में बाँटकर दोनों हिस्सों के लिये अलग-अलग संविधान सभा बनाई जानी चाहिये। क्रिप्स मिशन के विफल होने के बाद 1946 में जब कैबिनेट मिशन भारत आया तो संविधान सभा के गठन का मार्ग तैयार हो गया क्योंकि कैबिनेट मिशन ने दो संविधान सभाओं की मांग को ठुकराने के बाद भी सांप्रदायिक आधार पर निर्वाचन के सिद्धांत को मान लिया था, जिसने मुस्लिम लीग को काफी हद तक संतुष्ट कर दिया।

संविधान सभा का गठन
(Formation of the Constituent Assembly)

कैबिनेट मिशन द्वारा प्रस्तुत किये गए सुझावों के अनुसार नवंबर 1946 में संविधान सभा का गठन हुआ। मिशन की योजना के अनुसार संविधान सभा का स्वरूप निम्नलिखित प्रकार का होना था–

- संविधान सभा के कुल सदस्यों की संख्या 389 होनी थी। इनमें से 296 सीटें ब्रिटिश भारत के प्रांतों को और 93 सीटें देशी रियासतों को दी जानी थीं।
- हर ब्रिटिश प्रांत व देशी रियासत को उसकी जनसंख्या के अनुपात में सीटें दी जानी थीं। आमतौर पर प्रत्येक दस लाख लोगों पर एक सीट का आवंटन होना था।
- प्रत्येक ब्रिटिश प्रांत को दी गई सीटों का निर्धारण तीन प्रमुख समुदायों के मध्य उनकी जनसंख्या के अनुपात में किया जाना था। ये तीन समुदाय थे- मुस्लिम, सिख व सामान्य (मुस्लिम और सिख को छोड़कर)।
- प्रत्येक समुदाय के प्रतिनिधियों का चुनाव प्रांतीय असेंबली में उस समुदाय के सदस्यों द्वारा एकल संक्रमणीय मत के माध्यम से आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था के अनुसार किया जाना था।
- देशी रियासतों के प्रतिनिधियों का चयन चुनाव द्वारा नहीं बल्कि रियासतों के प्रमुखों द्वारा किया जाना था।

स्पष्ट है कि संविधान सभा आंशिक रूप से चुनी हुई और आंशिक रूप से नामांकित सभा थी। इसके अलावा, यह भी महत्त्वपूर्ण है कि इसके निर्वाचित सदस्यों का चयन अप्रत्यक्ष रूप से प्रांतीय विधायिका के सदस्यों द्वारा किया जाना था, जिनका चुनाव एक सीमित मताधिकार के आधार पर किया गया था।

उपरोक्त योजना के अनुसार, ब्रिटिश भारत के लिये आवंटित 296 सीटों के लिये चुनाव जुलाई-अगस्त 1946 में संपन्न हुए। इस चुनाव में भारतीय राष्ट्रीय कॉन्ग्रेस को 208, मुस्लिम लीग को 73 तथा छोटे दलों व निर्दलीय सदस्यों को 15 सीटें मिलीं। देशी रियासतों को आवंटित की गई 93 सीटें नहीं भर पाईं क्योंकि उन्होंने खुद को संविधान सभा से अलग रखने का निर्णय ले लिया था।

3 संविधान की प्रस्तावना
(Preamble of the Constitution)

प्रस्तावना किसी भी संविधान के लिये एक भूमिका की भाँति होती है, जिसमें संविधान के उद्देश्यों व आदर्शों, शासन प्रणाली का स्वरूप और संविधान के लागू होने की तिथि का उल्लेख होता है। सर्वप्रथम अमेरिकी संविधान निर्माताओं ने अपने संविधान में प्रस्तावना को शामिल किया था। इसके बाद जैसे-जैसे विभिन्न देशों ने अपने संविधान का निर्माण किया, उनमें से कई देशों ने प्रस्तावना को महत्त्वपूर्ण समझकर अपने संविधान का हिस्सा बनाया। जवाहरलाल नेहरू ने 13 दिसंबर, 1946 को संविधान सभा में उद्देश्य प्रस्ताव रखा, जिसे संविधान सभा ने 22 जनवरी, 1947 को स्वीकार कर लिया। उद्देश्य प्रस्ताव पर आधारित होने के कारण इसे उद्देशिका कहा गया और इसे संविधान में प्रस्तावना की जगह दी गई। वस्तुतः उद्देश्य प्रस्ताव और प्रस्तावना मिलकर भारतीय संविधान के दर्शन को मूल रूप प्रदान करते हैं।

केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य के मामले में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया है कि "प्रस्तावना संविधान का अंग है, क्योंकि जब अन्य सभी उपबंध अधिनियमित किये जा चुके थे, उसके पश्चात् प्रस्तावना को अलग से पारित किया गया। संविधान के अन्य भागों की तरह प्रस्तावना में भी संशोधन संभव है, बशर्ते वह आधारभूत ढाँचे को क्षति न पहुँचाता हो"।

प्रस्तावना के संदर्भ में कई बिंदुओं पर विचार किया जाना अपेक्षित है, जैसे प्रस्तावना की उपयोगिता क्या है, प्रस्तावना संविधान का अंग है या नहीं, क्या प्रस्तावना में अनुच्छेद 368 के उपबंधों के तहत संशोधन किया जा सकता है, क्या प्रस्तावना में लिखित विचारों को न्यायालय द्वारा (Enforce) प्रवर्तित कराया जा सकता है?

प्रस्तावना की विषयवस्तु (Content of the Preamble)

1976 में 42वें संविधान संशोधन के माध्यम से प्रस्तावना में तीन शब्द– **समाजवादी (Socialist)**, **पंथनिरपेक्ष (Secular)** तथा **अखंडता (Integrity)** जोड़े गए थे। इन शब्दों के जुड़ने के बाद प्रस्तावना का वर्तमान रूप इस प्रकार है–

प्रस्तावना (उद्देशिका)

हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न**, **समाजवादी**, **पंथनिरपेक्ष**, **लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिये तथा उसके समस्त नागरिकों को-

- सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय,
- विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता,
- प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिये,
- तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा, राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिये
- दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 (मिती मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् दो हज़ार छह विक्रमी) को **एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

प्रस्तावना की उपयोगिता (Utility of the Preamble)

भारतीय संविधान की प्रस्तावना को संविधान की आत्मा कहा गया है। संविधान की प्रस्तावना संविधान की व्याख्या का आधार प्रस्तुत करती है। यह संविधान का दर्पण है, जिसमें पूरे संविधान की तस्वीर दिखाई पड़ती है। इसकी उपयोगिता यह है कि यह संविधान के स्रोत, राजव्यवस्था की प्रकृति एवं संविधान के उद्देश्यों से परिचय कराती है। इसके साथ ही संविधान के अर्थ निर्धारण में एवं ऐतिहासिक स्रोत के रूप में भी प्रस्तावना उपयोगी है।

प्रस्तावना की उपयोगिता

संविधान की शक्ति का स्रोत	राजव्यवस्था की प्रकृति का परिचय	संविधान के उद्देश्यों का परिचय	संविधान के अर्थ निर्धारण के लिये उपयोगी	ऐतिहासिक स्रोत के रूप में
हम भारत के लोग अर्थात् 'जनता'	❑ संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न ❑ समाजवादी ❑ पंथनिरपेक्ष (धर्मनिरपेक्ष) ❑ लोकतांत्रिक ❑ गणराज्य	❑ सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय ❑ विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपसना की स्वतंत्रता ❑ प्रतिष्ठा एवं अवसर की समानता ❑ बंधुत्व की भावना का विकास	❑ किसी विनिर्दिष्ट उपबंध की शक्ति का स्रोत ❑ किसी अनुच्छेद या प्रावधान के शब्दों के दो या संदिग्ध या अस्पष्ट अर्थ होने पर प्रस्तावना सहायक	26 नवंबर, 1949 को भारतीय संविधान अधिनियमित और अंगीकृत हुआ।

4 संघ और उसका राज्यक्षेत्र (Union and it's Territory)

वर्तमान में भारत में 28 राज्य तथा 8 संघ राज्यक्षेत्र हैं। भारतीय संविधान के भाग-1 (अनुच्छेद 1 से 4) में इस प्रावधान का उल्लेख किया गया है कि भारत राज्यक्षेत्र (Indian Territory) में किस प्रकार की इकाइयाँ होंगी तथा उनका भारत संघ (Union of India) के साथ क्या संबंध होगा। इस भाग को सही रूप में समझने के लिये हम सभी अनुच्छेदों पर क्रमशः विचार करेंगे।

संघ व उसके राज्यक्षेत्र या भारत राज्य की प्रकृति से संबंधित अनुच्छेद (Articles Related to the Union and its Territory or Nature of India State)

संघ व उनके राज्यक्षेत्र से संबंधित या भारत राज्य की प्रकृति से संबंधित अनुच्छेद निम्नलिखित हैं-

अनुच्छेद 1 *(Article 1)*

- संविधान के अनुच्छेद 1(1) में कहा गया है कि भारत अर्थात् इंडिया राज्यों का संघ होगा (India, that is Bharat shall be a Union of States)। संविधान सभा में देश के नाम के मुद्दे पर काफी चर्चा हुई थी। जो लोग भारत की प्राचीन परंपरा और संस्कृति पर बल दे रहे थे, उनकी इच्छा थी कि देश का नाम 'भारत' होना चाहिये। दूसरी ओर कुछ नेताओं की राय थी कि 'इंडिया' नाम से भारत को पूरे विश्व में पहचाना जाता है तथा यह आधुनिक नाम है, इसलिये देश का नाम इंडिया ही होना चाहिये। चूँकि संविधान सभा विवाद के मामलों में सर्वसम्मति न हो पाने की दशा में समायोजन के सिद्धांत के अनुरूप कार्य करती थी, इसलिये उसने दोनों ही नामों को शामिल कर लेना उचित समझा। अतः इस अनुच्छेद से स्पष्ट है कि हमारे देश का औपचारिक नाम इंडिया है। इस अनुच्छेद में उल्लिखित यूनियन (Union) शब्द का प्रयोग करने के कारण को स्पष्ट करते हुए डॉ. भीमराव अंबेडकर ने कहा था-
  - भारत विभिन्न राज्यों के मध्य किसी समझौते का परिणाम नहीं है।
  - किसी भी राज्य को भारत संघ से पृथक् होने का अधिकार नहीं है।
- अनुच्छेद 1(2) में उल्लेख है कि राज्य और राज्यक्षेत्र वे होंगे जो संविधान की पहली अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं।
- अनुच्छेद 1(3) के अनुसार भारत के राज्यक्षेत्र में-
  - राज्यों के राज्यक्षेत्र
  - पहली अनुसूची में विनिर्दिष्ट संघ राज्यक्षेत्र और
  - ऐसे अन्य राज्यक्षेत्र जो अर्जित किये जाएँ, समाविष्ट होंगे।

प्रत्येक प्रभुत्व-संपन्न 'राष्ट्र' को नए राज्यक्षेत्रों के अर्जन का अधिकार होता है। ऐसे अर्जन हेतु विधि बनाने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि अर्जन अंतर्राष्ट्रीय विधि द्वारा अनुमोदित रीति से होता है, जैसे- युद्ध में जीतकर, संधि के अनुसरण में, अध्यर्पण द्वारा या स्वामीविहीन भूमि पर कब्ज़ा करके। अर्जन के पश्चात् वह राज्यक्षेत्र भारत का अंग हो जाता है और केंद्रशासित प्रदेश (संघ राज्यक्षेत्र) की तरह शासित होता है।

जैसा कि पहले बताया गया है, भारत द्वारा अर्जित राज्यक्षेत्रों की सूची में वर्तमान में कोई क्षेत्र शामिल नहीं है। जब भारत ने पुदुच्चेरी, कराइकल, माहे और यनम को फ्राँस से अर्जित किया था, तो 1954 से 1962 तक उन क्षेत्रों को अर्जित राज्यक्षेत्रों के रूप में प्रशासित किया जाता रहा था क्योंकि फ्राँसीसी संसद ने तब तक अध्यर्पण की संधि को अनुमोदित नहीं किया था। 1962 के बाद ये क्षेत्र संघ राज्यक्षेत्र बन गए। इनके अलावा, भारत ने समय-समय पर कुछ और भी विदेशी क्षेत्रों को अर्जित किया है, जैसे- गोवा, दमन व दीव, दादरा और नागर हवेली, सिक्किम इत्यादि। किंतु अब ये सारे क्षेत्र राज्यों या संघ राज्यक्षेत्रों की सूची में ही शामिल हो चुके हैं, कोई भी अर्जित राज्यक्षेत्रों में शामिल नहीं है।

भारत का राज्यक्षेत्र *(Territory of India)*

राज्य *(States)*

वर्तमान में प्रथम अनुसूची में 28 राज्यों का उल्लेख है। इसमें राज्यों का क्रम वही है, जो कि संविधान में निर्दिष्ट किया गया है- 1. आंध्र प्रदेश, 2. असम, 3. बिहार, 4. गुजरात, 5. केरल, 6. मध्य प्रदेश, 7. तमिलनाडु, 8. महाराष्ट्र, 9. कर्नाटक, 9. ओडिशा, 11. पंजाब, 12. राजस्थान, 13. उत्तर प्रदेश, 14. पश्चिम बंगाल, 15. नगालैंड, 16. हरियाणा, 17. हिमाचल प्रदेश, 18. मणिपुर, 19. त्रिपुरा, 20. मेघालय, 21. सिक्किम, 22. मिज़ोरम, 23. अरुणाचल प्रदेश, 24. गोवा, 25. छत्तीसगढ़, 26. उत्तराखंड, 27. झारखंड, 28. तेलंगाना।

संघ राज्यक्षेत्र *(Union Territories)*

वर्तमान में जम्मू-कश्मीर राज्य के पुनर्गठन तथा दादर एवं नागर हवेली और दमन एवं दीव के विलय के पश्चात् केंद्रशासित प्रदेशों की संख्या 8 हो गई है जिनके नाम प्रथम अनुसूची के दूसरे हिस्से में दिये गए हैं। इनका नाम तथा क्रम निम्नलिखित है- 1. दिल्ली, 2. अंडमान और निकोबार द्वीप समूह, 3. लक्षद्वीप, 4. दादरा एवं नागर हवेली और दमन एवं दीव, 5. पुदुच्चेरी (कराइकल, माहे और यनम सहित), 6. चंडीगढ़, 7. जम्मू-कश्मीर, 8. लद्दाख।

नोट: जम्मू-कश्मीर राज्य पुनर्गठन अधिनियम 2019 से पहले और तेलंगाना राज्य के बनने के बाद भारत में 29 राज्य और 7 केंद्रशासित प्रदेश थे। इस जे. एंड के. पुनर्गठन अधिनियम के लागू होने के पश्चात् जम्मू-कश्मीर और लद्दाख दो नए केंद्रशासित प्रदेश बने जिससे केंद्रशासित प्रदेशों की संख्या 9 हो गई एवं राज्यों की संख्या 28 हो गई। इसी प्रकार आगे दादर-नागर हवेली और दमन-द्वीप केंद्रशासित प्रदेश को मिलाकर एक केंद्रशासित प्रदेश बना दिया गया जिसे 26 जनवरी 2020 से लागू कर दिया गया। इसके बाद केंद्रशासित प्रदेशों की संख्या 8 और राज्यों की संख्या 28 है, जो वर्तमान परिदृश्य है।

5 नागरिकता (Citizenship)

नागरिकता का सामान्य अर्थ व्यक्ति और राज्य के अंतर्संबंधों की उद्घोषणा है। यह मनुष्य की उस स्थिति का नाम है, जिसमें मनुष्य को नागरिक का स्तर प्राप्त होता है। नागरिक केवल ऐसे व्यक्ति को कहा जा सकता है, जिसे राज्य की ओर से सभी राजनीतिक और नागरिक अधिकार प्रदान किये गए हों और जो उस राज्य के प्रति विशेष निष्ठा रखता हो। नागरिकता में यह तथ्य भी सम्मिलित है कि व्यक्ति का अपने राष्ट्र/राज्य के प्रति स्थायी निष्ठा भाव तो हो ही, साथ में राज्य द्वारा व्यक्ति को सक्रिय भागीदारी हेतु कुछ अधिकार व कर्त्तव्य भी दिये जाएँ, जिनका प्रयोग वह स्वयं के सर्वांगीण विकास के साथ-साथ समाज कल्याण हेतु भी करे। अत: नागरिकता कतिपय व्यक्ति को दायित्व, अधिकार, कर्त्तव्य और विशेषाधिकार प्रदान करती है।

नागरिकता से संबंधित संवैधानिक उपबंध (Constitutional Provisions Related to Citizenship)

- भारतीय संविधान के भाग-2 में अनुच्छेद-5 से 11 में नागरिकता से संबंधित प्रावधान का उल्लेख है। ये प्रावधान स्पष्ट करते हैं कि इस राज्यक्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों में से भारत के नागरिक कौन होंगे? संविधान में नागरिकता संबंधी बहुत कम प्रावधान दिये गए हैं। इसमें केवल यह बताया गया है कि संविधान लागू होने के दिन किन व्यक्तियों को भारत का नागरिक माना जाएगा, जबकि बाद की स्थितियों के लिये नागरिकता संबंधी कानून बनाने की पूर्ण शक्ति संसद को दी गई है।

भाग-2 नागरिकता	
अनुच्छेद 5	– संविधान के प्रारंभ पर नागरिकता।
अनुच्छेद-6	– पाकिस्तान से भारत को प्रव्रजन करने वाले कुछ व्यक्तियों के नागरिकता के अधिकार।
अनुच्छेद-7	– पाकिस्तान को प्रव्रजन करने वाले कुछ व्यक्तियों के नागरिकता के अधिकार।
अनुच्छेद-8	– भारत के बाहर रहने वाले भारतीय उद्भव के कुछ व्यक्तियों के नागरिकता के अधिकार।
अनुच्छेद-9	– विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित करने वाले व्यक्तियों का नागरिक न होना।
अनुच्छेद-10	– नागरिकों के अधिकारों का बना रहना।
अनुच्छेद-11	– संसद द्वारा नागरिकता के अधिकार का विधि द्वारा विनियमन किया जाना।

- भारत में एकल नागरिकता का प्रावधान है। भारत में अलग-अलग राज्यों के अनुसार नागरिकता का प्रावधान नहीं है, संपूर्ण भारत के लिये एक ही प्रकार की व्यवस्था है। गौरतलब है कि अमेरिका में दोहरी नागरिकता का प्रावधान है- स्टेट व फेडरेशन की पृथक्-पृथक् नागरिकताएँ।

संविधान के आरंभ पर नागरिकों के वर्ग *(Categories of Citizens in the Beginning of Constitution)*

अनुच्छेद 5 से 8 तक प्रत्येक में नागरिकों के एक विशेष वर्ग का उल्लेख किया गया है। संविधान बनने के बाद 26 जनवरी, 1950 को लागू संविधान के तहत निम्नलिखित चार श्रेणियों के लोग भारत के नागरिक बने-

1. **अधिवास द्वारा नागरिकता (Citizenship by domicile):** इसकी चर्चा अनुच्छेद 5 में की गई है। इस अनुच्छेद के अनुसार ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो संविधान के प्रारंभ के समय भारत के राज्यक्षेत्र में अधिवास करता है, वह भारत का नागरिक होगा, यदि वह निम्नलिखित तीन में से कोई एक शर्त पूरी करता हो–
   (क) वह भारत के राज्यक्षेत्र में जन्मा हो; अथवा
   (ख) उसके माता-पिता में से कोई एक भारत के राज्यक्षेत्र में जन्मा हो, अथवा
   (ग) वह संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले कम–से–कम 5 वर्षों तक साधारण तौर पर भारत का निवासी रहा हो।
2. **पाकिस्तान से प्रव्रजन (Migration) करके आए व्यक्तियों की नागरिकता:** संविधान के अनुच्छेद 6 में बताया गया है कि पाकिस्तान से प्रव्रजन करके आए व्यक्तियों में से किन्हें भारत का नागरिक समझा जाएगा? ऐसे व्यक्तियों को दो वर्गों में बाँटा गया है-
   (क) जो **19 जुलाई, 1948** से पहले भारत आ गए थे; तथा
   (ख) जो **19 जुलाई, 1948** को या उसके बाद भारत आए हैं।

   19 जुलाई, 1948 की तिथि का महत्त्व यह है कि इसी तिथि से भारत से पाकिस्तान और पाकिस्तान से भारत आने-जाने के लिये अनुमति पत्र (Permit) की प्रणाली शुरू की गई थी।

   अनुच्छेद 6 के अनुसार पाकिस्तान से भारत प्रव्रजन करने वाला कोई भी व्यक्ति भारत का नागरिक तभी समझा जाएगा, जब वह दो शर्तें पूरी करता हो–
   (क) उसका या उसके माता-पिता अथवा उसके दादा-दादी/नाना-नानी में से किसी का जन्म 'भारत शासन अधिनियम, 1935' द्वारा परिभाषित भारत के राज्यक्षेत्र में हुआ हो;
   (ख) दूसरी शर्त 19 जुलाई, 1948 से पहले और बाद में प्रव्रजन करने वालों के लिये अलग-अलग है। इस तिथि से पहले

6 मूल अधिकार (Fundamental Rights)

मूल अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के लिये समानता, स्वतंत्रता, राष्ट्रहित और राष्ट्रीय एकता को समाहित करता है। मूल अधिकार राजनीतिक लोकतंत्र के आदर्शों को बनाए रखने के लिये ज़रूरी है। ये अधिकार देश में व्यवस्था बनाए रखने एवं राज्य के कठोर नियमों के खिलाफ नागरिकों की स्वतंत्रता की सुरक्षा करते हैं। ये मूल इसलिये भी हैं कि ये व्यक्ति के चहुँमुखी विकास, मसलन- भौतिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिये आवश्यक हैं।

मूल अधिकार का अर्थ (Meaning of Fundamental Rights)

मूल अधिकार उन अधिकारों को कहा जाता है जो व्यक्ति के जीवन के लिये आवश्यक होने के कारण संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं और जिनमें राज्य द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। ये ऐसे अधिकार हैं जो व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये आवश्यक हैं और जिनके बिना मुनष्य अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता। संविधान द्वारा बिना किसी भेदभाव के हर व्यक्ति के लिये मूल अधिकारों के संबंध में गारंटी दी गई है। वस्तुत: मौलिक अधिकार वे अधिकार हैं, जो व्यक्ति के भौतिक व नैतिक विकास के लिये अनिवार्य हैं, जिन्हें संविधान का विशेष संरक्षण प्राप्त है। संविधान का विशेष संरक्षण इन्हें तीन रूपों में प्राप्त है-

- मौलिक अधिकारों के उल्लंघन पर अनुच्छेद 32 के तहत सीधे सर्वोच्च न्यायालय जा सकते हैं।
- मूल अधिकारों में संशोधन विशेष बहुमत से ही किया जा सकता है।
- इनका निलंबन केवल एक प्रक्रिया के माध्यम से ही किया जा सकता है।

मूल अधिकारों की विशेषताएँ *(Characteristics of Fundamental Rights)*

मूल अधिकारों की पूर्णत: निश्चित विशेषताएँ बताना संभव नहीं है, क्योंकि विभिन्न देशों में उनकी प्रकृति भिन्न है। मोटे तौर पर, भारतीय राजव्यवस्था की दृष्टि से मूल अधिकारों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित मानी जा सकती हैं-

- संविधान में उल्लिखित तथा संविधान द्वारा रक्षित और प्रवृत्त।
- कार्यपालिका तथा विधानमंडल दोनों की शक्तियों पर नियंत्रण। इन अधिकारों का उल्लंघन करने वाली कोई विधि उस सीमा तक निष्प्रभावी या शून्य हो जाती है, जहाँ तक वह मूल अधिकारों का उल्लंघन करती है।
- मूल अधिकारों में परिवर्तन करने के लिये संविधान में संशोधन करना ज़रूरी होता है। कानूनी अधिकार के मामले में संविधान संशोधन की ज़रूरत सिर्फ तब होती है जब वह संविधान के द्वारा दिया गया हो। अगर कानूनी अधिकार किसी अधिनियम के माध्यम से दिया गया है तो उसमें साधारण बहुमत से ही संशोधन किया जा सकता है।

ध्यातव्य है कि सभी कानूनी अधिकार मूल अधिकार नहीं होते हैं, उदाहरण के लिये, उपभोक्ता अधिकार, संपत्ति का अधिकार, व्यापार और वाणिज्य की स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद-301)।

मूल अधिकार नकारात्मक भी हो सकते हैं और सकारात्मक भी; उनका स्वरूप प्राकृतिक अधिकारों (Natural rights) की तरह भी हो सकता है और सामान्य कानूनी या विधिक अधिकारों (Legal rights) की तरह भी। यह इस बात पर निर्भर करता है कि संबंधित देश की राजव्यवस्था का स्वरूप कैसा है। जहाँ तक भारतीय संविधान व राजनीतिक व्यवस्था का प्रश्न है, उसमें दिये गए मूल अधिकार इन सभी वर्गों में अलग-अलग मात्रा में समायोजित किये जा सकते हैं।

भारत में मूल अधिकारों की आवश्यकता (Need of Fundamental Rights in India)

संविधान सभा द्वारा संविधान में मूल अधिकारों की व्यवस्था किये जाने के कुछ विशेष कारण थे, जैसे-

- भारत की अधिकांश जनता निरक्षर होने के कारण अपने राजनीतिक हितों और अधिकारों को नहीं समझती थी, इसलिये यह खतरा लगातार विद्यमान था कि कहीं राज्य उसके मूल अधिकारों का हनन न कर दे।
- संसदीय शासन प्रणाली (Parliamentary System) में कार्यपालिका का विधायिका में बहुमत होता है जिसका अर्थ है कि सरकार संसदीय बहुमत का प्रयोग करते हुए मूल अधिकारों को छीनने वाला कानून बना सकती है।
- भारत में धार्मिक और जातीय वैविध्य काफी ज़्यादा है तथा अल्पसंख्यक वर्ग अपनी कम जनसंख्या के कारण सरकार के निर्माण में प्राय: कमज़ोर सिद्ध होता है। अत: बहुमत की तानाशाही से अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान करने के लिये।
- भारत में संघात्मक पद्धति (Federal System) को स्वीकार किया गया था और यह संभावना थी कि कहीं किसी प्रांत की सरकार नागरिकों के अधिकार न छीनने लगे।
- जनता को यह बोध हो जाए कि अब किसी भी व्यक्ति के पास विशेषाधिकार (Privileges) नहीं हैं और सभी भारतीय नागरिक विधि के समक्ष समान हैं।
- कई ऐसे वर्ग (दलित, आदिवासी स्त्री) थे जो लंबे समय से वर्चस्वशाली वर्गों के हाथों दमन और शोषण का शिकार हो रहे थे। ऐसे वर्गों को मुख्यधारा में लाने के लिये मूल अधिकारों की व्यवस्था करना ज़रूरी था।

7 राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांत (Directive Principles of State Policy)

संविधान के भाग 4 को राज्य के नीति-निदेशक तत्त्व (डी.पी. एस.पी.) शीर्षक दिया गया है। इसके अंतर्गत 36 से 51 तक के अनुच्छेद शामिल हैं। संविधान का यह भाग आयरलैंड के संविधान से प्रभावित है। इसके माध्यम से संविधान राज्य को बताता है कि उसे सामाजिक तथा आर्थिक न्याय सुनिश्चित करने के लिये नैतिक दृष्टि से किन पक्षों पर बल देना चाहिये।

नीति-निदेशक तत्त्वों का इतिहास (History of Directive Principles)

भारतीय संविधान में नीति-निदेशक तत्त्वों का विकास मूल अधिकारों के विकास के साथ ही हो गया था। संविधान सभा के सदस्यों में इस बात पर सहमति बन गई थी कि स्वतंत्र भारत में प्रत्येक व्यक्ति को मूल अधिकार तो दिये ही जाने चाहिये, साथ ही राज्य द्वारा ऐसे आदर्शों को साधने की कोशिश भी की जानी चाहिये जो सामाजिक न्याय के लिये वांछनीय हैं। इन सिद्धांतों को मूल अधिकारों के रूप में दिया जाना तत्कालीन परिस्थितियों में संभव नहीं था। ऐसे अधिकार, जिन्हें तत्काल देना संभव नहीं था, बी.एन. राव की सलाह पर नीति-निदेशक तत्त्वों की श्रेणी में रख दिये गए, ताकि जब सरकारें सक्षम हो जाएँ तब धीरे-धीरे इन उपबंधों को लागू करें। इन्हीं उपबंधों को संविधान के भाग 4 में रखा गया तथा राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांत नाम दिया गया।

राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों की विशेषताएँ (Features of Directive Principles of State Policy)

- राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों से स्पष्ट होता है कि नीतियों एवं कानूनों को प्रभावशाली बनाते समय राज्य इन तत्त्वों को ध्यान में रखेगा। ये संवैधानिक निर्देश कार्यपालिका और प्रशासनिक मामलों में राज्य के लिये सिफारिशें हैं। अनुच्छेद 36 के अनुसार भाग 4 में 'राज्य' शब्द का वही अर्थ है, जो मूल अधिकारों से संबंधित भाग 3 में है।
  - ❑ डी.पी.एस.पी. पर गांधीवाद, समाजवाद तथा उदारवाद का प्रभाव है।
  - ❑ इसके द्वारा आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना की जाती है।
  - ❑ इसको लागू करने का दायित्व राज्य सरकार का है।
  - ❑ इसे न्यायालय द्वारा लागू नहीं कराया जा सकता।
- यह भारत शासन अधिनियम, 1935 में उल्लिखित अनुदेशों के समान है। डॉ. बी.आर. अंबेडकर के शब्दों में निदेशक तत्त्व अनुदेशों के समान हैं जो भारत शासन अधिनियम, 1935 के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार द्वारा गवर्नर जनरल और भारत की औपनिवेशिक कॉलोनियों के गवर्नरों को जारी किये जाते थे। जिसे निदेशक तत्त्व कहा जाता है, वह इन अनुदेशों का ही दूसरा नाम है।
- निदेशक तत्त्वों की प्रकृति न्यायोचित नहीं है। इनका हनन होने पर न्यायालय द्वारा इन्हें लागू नहीं कराया जा सकता। अतः सरकार (केंद्र, राज्य एवं स्थानीय) इन्हें लागू करने के लिये बाध्य नहीं है।
- राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों का उद्देश्य लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है।
- ये संविधान की प्रस्तावना में उद्धृत सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय तथा स्वतंत्रता, समानता और बंधुता की भावना पर आधारित हैं।
- ये वे विचार हैं, जिन्हें संविधान निर्माताओं ने भविष्य में बनने वाली सरकारों के समक्ष एक पथ-प्रदर्शक के रूप में रखा है।
- जनता के हित और आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के लिये नीति-निदेशक तत्त्वों को यथाशक्ति कार्यान्वित करना राज्य का कर्त्तव्य है।

निदेशक तत्त्वों का महत्त्व (Importance of Directive Principles)

- 'लोक-कल्याणकारी राज्य' की स्थापना करना।
- आर्थिक व सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना करना।
- भारत सरकार के कल्याणकारी कार्यों का आधार; अधिकांश योजनाएँ इससे प्रेरित हैं।
- इसमें संविधान का दर्शन निहित होता है।
- जब कभी न्यायपालिका के सम्मुख कोई संवैधानिक कठिनाई उत्पन्न हुई है, न्यायपालिका ने संविधान की प्रस्तावना तथा राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों को ध्यान में रखकर संविधान को समझने का प्रयास किया है।
- वर्तमान में उच्चतम न्यायालय के द्वारा जनहित याचिकाओं के अंतर्गत जीवन के अधिकार की विस्तृत व्याख्या की गई है और जीवन के अधिकार में आजीविका ही निदेशक तत्त्वों में वर्णित है।

विभिन्न विचारकों का राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों के संबंध में विचार *(Thoughts of Different Thinkers Regarding to the Directive Principles of State Policy)*

- **डॉ. अंबेडकर:** "नीति-निदेशक तत्त्वों का बहुत बड़ा मूल्य है। ये भारतीय राजव्यवस्था के लक्ष्य 'आर्थिक लोकतंत्र' को निर्धारित करते हैं जैसा कि 'राजनीतिक लोकतंत्र' में प्रकट होता है।"
- **ग्रेनविल ऑस्टिन:** "निदेशक तत्त्व सामाजिक क्रांति के उद्देश्यों की प्राप्ति के माध्यम हैं।"
- **बी.एन. राव:** "नीति-निदेशक तत्त्वों का राज्य प्राधिकारियों के लिये शैक्षिक महत्त्व है।"

8

मूल कर्त्तव्य
(Fundamental Duties)

भारत के संविधान में मूल अधिकारों के साथ मूल कर्त्तव्यों (मौलिक कर्त्तव्यों) को भी शामिल किया गया है। वस्तुत: अधिकार और कर्त्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं। अधिकारविहीन कर्त्तव्य निरर्थक होते हैं, जबकि कर्त्तव्य विहीन अधिकार निरंकुशता पैदा करते हैं।

यदि व्यक्ति को 'गरिमापूर्ण जीवन' का अधिकार प्राप्त है तो उसका कर्त्तव्य बनता है कि वह अन्य व्यक्तियों के गरिमापूर्ण जीवन के अधिकार का भी ख्याल रखे। यदि व्यक्ति को 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' प्यारी है तो यह भी ज़रूरी है कि उसमें दूसरों की 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' के प्रति धैर्य और सहिष्णुता विद्यमान हो।

गौरतलब है कि संविधान निर्माताओं ने राज्य के कर्त्तव्यों को जरूरी समझते हुए 'राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों' के रूप में शामिल किया, जबकि नागरिकों के मूल कर्त्तव्यों को संविधान में जोड़ना आवश्यक नहीं समझा। रोचक बात यह है कि विश्व के अधिकांश लोकतांत्रिक देशों के संविधान में नागरिकों के कर्त्तव्यों का उल्लेख नहीं किया गया है, उनमें केवल मूल अधिकारों की घोषणा की गई है, जैसे– अमेरिका, फ्राँस, कनाडा आदि। कुछ साम्यवादी देशों में मूल कर्त्तव्यों की घोषणा करने की परंपरा दिखाई पड़ती है। भूतपूर्व सोवियत संघ का उदाहरण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भारतीय संविधान में उल्लिखित मूल कर्त्तव्य भूतपूर्व सोवियत संघ के संविधान से ही प्रभावित हैं।

भारतीय संविधान में मूल कर्त्तव्यों का इतिहास *(History of Fundamental Duties in Indian Constitution)*

भारतीय संविधान में भी प्रारंभ में मूल कर्त्तव्य शामिल नहीं थे। इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में 1975 ई. में आपातकाल की घोषणा की गई, तभी सरदार स्वर्ण सिंह के नेतृत्व में संविधान में उपयुक्त संशोधन सुझाने के लिये एक समिति का गठन किया गया था। इस समिति में सरदार स्वर्ण सिंह के अलावा ए.आर अन्तुले, एस.एस. रे, सी.एम. स्टीफन रजनी पटेल, एच.आर. गोखले, वी.एन. गाडगिल, वी.ए. सैयद मुहम्मद, डी.पी. सिंह, वसंत साठे, बी.एन. बनर्जी व दिनेश गोस्वामी शामिल थे। समिति द्वारा यह सुझाव दिया गया कि संविधान में मूल अधिकारों के साथ-साथ मूल कर्त्तव्यों का समावेश होना चाहिये। इसके पीछे समिति का तर्क यह था कि भारत में अधिकांश लोग सिर्फ अधिकारों पर बल देते हैं, वे यह नहीं समझते कि हर अधिकार किसी-न-किसी कर्त्तव्य के सापेक्ष होता है।

स्वर्ण सिंह समिति की अनुशंसाओं के आधार पर 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 के द्वारा संविधान के भाग 4 के पश्चात् भाग 4क अंत: स्थापित किया गया और उसके भीतर अनुच्छेद 51क को रखते हुए 10 मूल कर्त्तव्यों की सूची प्रस्तुत की गई। आगे चलकर 86वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2002 के माध्यम से एक और मूल कर्त्तव्य जोड़ा गया, जिसके तहत 6–14 वर्ष की आयु के बच्चों के माता-पिता या संरक्षक पर यह कर्त्तव्य आरोपित किया गया है कि वे अपने बच्चे अथवा प्रतिपाल्य को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्रदान करेंगे।

यद्यपि सरदार स्वर्ण सिंह समिति द्वारा दिये गए सुझावों में केवल आठ मूल कर्त्तव्यों को जोड़ने की सिफारिश की गई थी, जबकि 42वें संविधान संशोधन द्वारा 10 मूल कर्त्तव्यों को जोड़ा गया। हालाँकि समिति के कुछ सुझावों को सरकार द्वारा स्वीकार नहीं किया गया था। इनमें शामिल हैं-

- कर्त्तव्य अनुपालन के इनकार पर संसद द्वारा आर्थिक दंड या सजा का प्रावधान।
- कर अदायगी को मूल कर्त्तव्य मानना।
- कोई कानून मूल कर्त्तव्यों के अरुचिकर होने पर अदालत द्वारा किसी भी प्रकार के अर्थदंड या सज़ा का प्रावधान नहीं करेगा।

मूल कर्त्तव्यों की सूची *(List of Fundamental Duties)*

वर्तमान में संविधान के भाग 4क तथा अनुच्छेद 51क के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक के कुल 11 मूल कर्त्तव्य हैं। इसके अनुसार, भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह-

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे।

(ख) स्वतंत्रता के लिये हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में सँजोए रखे और उनका पालन करे।

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे।

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किये जाने पर राष्ट्र की सेवा करे।

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे, जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं।

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे।

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्द्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे।

86वाँ संविधान संशोधन

वर्ष 2002 में शिक्षा के अधिकार को संविधान के अनुच्छेद 51क में संशोधन करके (ञ) के बाद नया अनुच्छेद (ट) जोड़ा गया है, "इसमें 6 साल से 14 साल तक की आयु के बच्चे के माता-पिता या अभिभावक अथवा संरक्षक को अपने बच्चे अथवा प्रतिपाल्य को शिक्षा दिलाने के लिये अवसर उपलब्ध कराने का प्रावधान है।"

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे।

9 संघ की कार्यपालिका (Union Executive)

भारतीय संविधान में सरकार के संसदीय स्वरूप की व्यवस्था की गई है तथा संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका अपनी नीतियों एवं कार्यों के लिये विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। वस्तुत: राजव्यवस्था का वह अंग जो नीति-निर्माण, नीति क्रियान्वयन का कार्य करे, कार्यपालिका कहलाती है। भारतीय संविधान के **भाग 5 के अनुच्छेद 52 से 78** तक में संघ की कार्यपालिका का उल्लेख किया गया है जिसमें सम्मिलित अंग- राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद तथा महान्यायवादी आदि हैं। भारतीय संविधान केंद्र एवं राज्य दोनों में संसदीय सरकार की व्यवस्था करता है। जहाँ एक तरफ अनुच्छेद 74 और अनुच्छेद 75 के माध्यम से केंद्र में संसदीय स्वरूप की व्यवस्था होती है तो वहीं दूसरी तरफ अनुच्छेद 163 और अनुच्छेद 164 के माध्यम से राज्यों के लिये संसदीय व्यवस्था का प्रावधान किया जाता है।

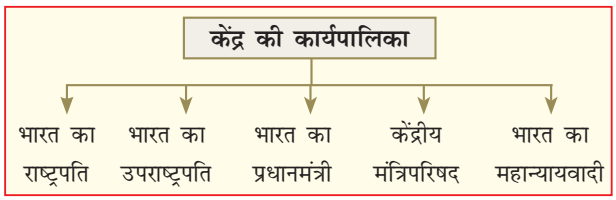

भारत का राष्ट्रपति (The President of India)

राष्ट्रपति भारत का राज्य प्रमुख तथा प्रथम नागरिक होता है। संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है और वह इसका प्रयोग संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करता है। राष्ट्रपति देश की सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति भी होता है।

राष्ट्रपति का निर्वाचन *(Election of the President)*

संविधान के अनुच्छेद 54 तथा 55 में राष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित उपबंध दिये गए हैं। अनुच्छेद 54 में इस बात का निर्देश है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन में मत देने का अधिकार किसे होगा, जबकि अनुच्छेद 55 में बताया गया है कि निर्वाचन की प्रक्रिया क्या होगी।

निर्वाचक मंडल (Electoral College)

अनुच्छेद 54 में स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल के माध्यम से होगा जिसमें–

(क) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा

(ख) राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य शामिल होंगे।

इस निर्वाचक मंडल में संविधान के '70वें संशोधन अधिनियम, 1992' के द्वारा एक स्पष्टीकरण अंत:स्थापित किया गया था। इसके अनुसार राष्ट्रपति के निर्वाचन के संबंध में राज्यों की सूची में दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र और पुदुच्चेरी संघ राज्यक्षेत्र भी शामिल होंगे।

ध्यान रहे कि राष्ट्रपति के निर्वाचन मंडल में राज्यसभा व लोकसभा में मनोनीत सदस्य तथा राज्य की विधानपरिषदों के सदस्य शामिल नहीं होते हैं।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन (Indirect Election)

निर्वाचक मंडल के प्रावधान से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष तरीके से होता है, जनता स्वयं चुनाव द्वारा राष्ट्रपति को नहीं चुनती। संविधान सभा में इस प्रश्न पर काफी बहस भी हुई थी। अंत में अप्रत्यक्ष निर्वाचन को निम्नलिखित ठोस आधारों पर स्वीकार कर लिया गया–

- भारत की बड़ी जनसंख्या तथा वृहत् आकार को देखते हुए प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था करना न सिर्फ महँगा होता बल्कि समय की दृष्टि से भी अनुपयोगी होता।
- यदि प्रत्यक्ष निर्वाचन कर लिया जाता तो भी समस्याएँ कम नहीं होतीं। शक्ति संघर्ष की संभावना बनी रहती, क्योंकि पूरे देश की जनता द्वारा चुना गया राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद की अधीनता कभी स्वीकार नहीं करता।

निर्वाचन की प्रक्रिया (Electoral Procedure)

अनुच्छेद 55 में राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया विस्तार से बताई गई है, जिसे निम्नलिखित बिंदुओं द्वारा क्रमश: समझा जा सकता है–

- राष्ट्रपति के चुनाव में एकल संक्रमणीय मत द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति लागू की गई है जो मूलत: यही सुनिश्चित करने के लिये है कि निर्वाचित उम्मीदवार आनुपातिक दृष्टि से सर्वाधिक लोगों की पसंद हो। इस पद्धति में सबसे पहले एक कोटा तय कर लिया जाता है जो भारत के राष्ट्रपति के मामले में 50% से अधिक मतों का है। यह कोटा चुनाव में वास्तविक रूप से कितने मतों के बराबर होगा, यह निर्धारित करने के लिये एक सूत्र निर्धारित किया गया है, जो इस प्रकार है–

$$\frac{\text{डाले गए कुल मतों की संख्या}}{\text{कुल स्थानों की संख्या} + 1} + 1 = \text{कोटा}$$

- इस पद्धति में प्रत्येक मतदाता को मत देते समय अपनी वरीयताओं का अंकन करना होता है अर्थात् उसे बताना होता है कि विभिन्न प्रत्याशियों के लिये उसका वरीयता क्रम क्या है।
- अनुच्छेद 55(2) में बताया गया है कि सभी राज्य विधानसभाओं के सभी निर्वाचित विधायकों के कुल मतों का योग, संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों के मतों के कुल योग के समतुल्य बनाने के लिये क्या पद्धति अपनाई जाए? इस पद्धति के अनुसार सबसे पहले विभिन्न राज्यों के विधायकों के मतों का मूल्य निकाला जाता है। किसी राज्य की विधानसभा के एक सदस्य के मत का मूल्य निकालने का सूत्र इस प्रकार है–

10 राज्य कार्यपालिका (State Executive)

भारत विविधताओं से परिपूर्ण देश है। यहाँ राज्यों में भाषा, रीति-रिवाज एवं संस्कृति संबंधी विविधताएँ पाई जाती हैं। इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान में संघ एवं राज्यों से संबंधित संवैधानिक व्यवस्थाओं में एकरूपता रखने का प्रयास किया गया है। जिस प्रकार संघीय कार्यपालिका राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद (जिसका प्रमुख प्रधानमंत्री होता है) तथा महान्यायवादी से मिलकर बनती है, उसी प्रकार राज्यों में कार्यपालिका राज्यपाल, राज्य मंत्रिपरिषद (जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होता है) तथा महाधिवक्ता से मिलकर बनती है। राज्य कार्यपालिका के संबंध में उपबंध संविधान के **भाग-6 के अनुच्छेद 153 से 167** में दिये गए हैं।

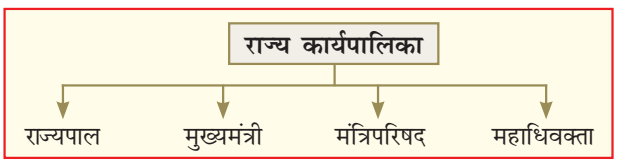

राज्यपाल (The Governor)

'राज्यपाल' का पद राज्य की शासन-व्यवस्था का अत्यंत महत्त्वपूर्ण पद है। वह राज्य विधानमंडल का अभिन्न अंग है, राज्य की कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है तथा केंद्र सरकार का प्रतिनिधि भी है। इस तरह राज्यपाल एक साथ कई भूमिकाओं का निर्वाह करता है।

मूल संविधान में व्यवस्था थी कि प्रत्येक राज्य के लिये एक राज्यपाल होगा (अनुच्छेद 153)। बाद में संविधान के 7वें संशोधन, 1956 के माध्यम से इसमें परंतुक (Proviso) जोड़कर स्पष्ट किया गया कि एक ही व्यक्ति को दो या अधिक राज्यों का राज्यपाल बनाया जा सकेगा।

राज्यपाल की नियुक्ति *(Appointment of the Governor)*

संविधान सभा इस प्रश्न पर काफी दुविधा में थी कि राज्यपाल की नियुक्ति कैसे हो। संघात्मक देशों में राज्यपाल प्रायः जनता द्वारा सीधे चुने जाते हैं। अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में यही व्यवस्था है। इसके विपरीत कनाडा में राज्यपालों की नियुक्ति केंद्र द्वारा की जाती है। संविधान सभा के सामने सवाल था कि भारत की परिस्थितियों के लिये इनमें से कौन-सा रास्ता उचित होगा।

लंबे विचार-विमर्श के बाद संविधान सभा ने तय किया कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा किया जाना ही उचित होगा। इस निष्कर्ष तक पहुँचने के निम्नलिखित आधार थे-

- भारत के विभाजन के कारण संविधान सभा समझ गई थी कि देश की स्थिरता और अखंडता के लिये एक मज़बूत केंद्र का होना ज़रूरी है। इसके लिये केंद्र द्वारा नियुक्त राज्यपाल ही बेहतर था।
- अगर राज्यपाल जनता द्वारा चुना जाता तो वह मुख्यमंत्री की प्रमुखता स्वीकार करने की बजाय स्वयं ही शक्ति का केंद्र बनना पसंद करता।
- अगर राज्यपाल का चुनाव होता तो इस पद पर चुना जाने वाला व्यक्ति स्वभावतः किसी दल या गठबंधन से जुड़ा होता। इससे उसकी तटस्थता प्रभावित होती और यह राज्य के स्वस्थ शासन के लिये अच्छा न होता।
- चूँकि राज्यपाल को सिर्फ औपचारिक प्रमुख की भूमिका निभानी थी, इसलिये उसके चुनाव पर बहुत सारा धन खर्च करने तथा अनावश्यक जटिलताओं को आमंत्रित करने की उपयोगिता नहीं थी।

राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राज्यपाल राज्य का कार्यकारी प्रमुख होता है, जो केंद्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है।

नोटः केंद्र सरकार द्वारा मनोनीत व्यक्ति को ही राष्ट्रपति किसी राज्य का राज्यपाल नियुक्त करता है, किंतु राज्यपाल का कार्यालय एक स्वतंत्र संवैधानिक कार्यालय है, केंद्र सरकार के अधीनस्थ नहीं।

राज्यपाल की नियुक्ति के लिये अर्हताएँ एवं शर्तें *(Qualifications & Conditions for Appointment as Governor)*

संविधान के अनुच्छेद 157 में राज्यपाल के पद पर नियुक्ति के लिये दो अर्हताएँ निर्धारित की गई हैं-

- उसे भारत का नागरिक होना चाहिये।
- वह 35 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो।

वस्तुतः राज्यपाल बनने के लिये यही दो अर्हताएँ हैं, पर इनके अलावा कुछ शर्तें भी हैं जो इस पद पर नियुक्ति की नहीं बल्कि इस पद पर बने रहने की अर्हताएँ हैं। ये हैं-

- उस व्यक्ति को संसद या राज्य विधानमंडल के किसी सदन का सदस्य नहीं होना चाहिये। यदि ऐसा सदस्य राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया जाता है, तो यह समझा जाएगा कि राज्यपाल का पद ग्रहण करने की तारीख से उन्होंने अपना स्थान रिक्त कर दिया। [(अनुच्छेद 158(1)]
- वह केंद्र एवं राज्य सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर न हो। [अनुच्छेद 158 (2)]

इसके अतिरिक्त राज्यपाल की नियुक्ति से संबंधित दो परंपराएँ और जुड़ गई हैं-

प्रथम, वह उस राज्य से संबंधित नहीं होना चाहिये, जहाँ उसे नियुक्त किया जा रहा है, जिससे वह स्थानीय राजनीति से मुक्त रहे।

दूसरा, राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति से पहले उस राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श किया जाए, जहाँ उनकी नियुक्ति की जा रही है। किंतु इन परंपराओं का कुछ मामलों में उल्लंघन किया जाता है।

11 संघीय विधायिका (Federal Legislature)

भारतीय संविधान में संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली को अपनाया गया है, जिसे सरकार का **वेस्टमिंस्टर मॉडल** भी कहा जाता है। संसदीय लोकतंत्र में संसद के सामान्यत: तीन लक्षण होते हैं, प्रथम- यह जनता का प्रतिनिधित्व करती है, द्वितीय- इसमें उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार होती है तथा तृतीय- मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है।

भारतीय संसद राष्ट्रपति, लोकसभा एवं राज्यसभा से मिलकर बनती है। राष्ट्रपति इसका अभिन्न अंग होता है, क्योंकि कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के पश्चात् ही विधि बन पाता है। संसद की संरचना, अवधि, अधिकारों, प्रक्रियाओं, विशेषाधिकारों तथा शक्तियों का वर्णन संविधान के **भाग-5** के अंतर्गत **अनुच्छेद 79 से 122** में किया गया है।

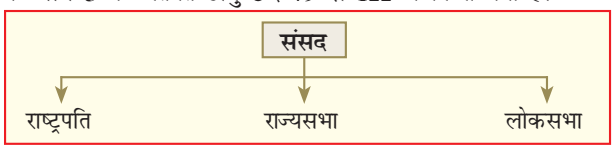

राज्यसभा (The Council of States)

हमारी संसद का एक सदन 'राज्यसभा' है, जिसे अंग्रेज़ी में 'Council of States' कहा जाता है। इसकी संरचना प्राय: वैसी ही है, जैसी इंग्लैंड में 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' की है। थोड़ी-बहुत मात्रा में इसे अमेरिकी कॉन्ग्रेस के द्वितीय सदन 'सीनेट' के समकक्ष भी माना जा सकता है। कभी-कभी इंग्लैंड की राजव्यवस्था के अनुकरण पर इसे उच्च सदन (Upper House) कह दिया जाता है। हालाँकि संविधान में ऐसी अभिव्यक्ति का प्रयोग नहीं किया गया है।

राज्यसभा का गठन *(Composition of the Council of States)*

संविधान के **अनुच्छेद 80** में राज्यसभा के गठन से संबंधित प्रावधान दिये गए हैं। इसके अनुसार राज्यसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 250 हो सकती है। हालाँकि वर्तमान में यह 245 ही है। इनमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत (Nominate) किये जाते हैं जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला या समाज-सेवा के संबंध में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव होता है। शेष सदस्य, जो अधिकतम 238 हो सकते हैं, किंतु वर्तमान में 233 हैं, निर्वाचित होते हैं। राज्यसभा में प्रत्येक राज्य से कितने सदस्य होंगे, इसके लिये अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया आदि में प्रचलित 'समान प्रतिनिधित्व के सिद्धांत' (Doctrine of Equal Representation) को नहीं अपनाया गया है बल्कि राज्य विशेष की जनसंख्या को आधार बनाया गया है। यह व्यवस्था की गई है कि किसी राज्य की जनसंख्या के पहले 50 लाख व्यक्तियों तक हर 10 लाख व्यक्तियों पर एक सदस्य तथा उसके बाद प्रति 20 लाख व्यक्तियों पर राज्यसभा में एक सदस्य होगा। संविधान की चौथी अनुसूची में सभी राज्यों तथा संघ राज्यक्षेत्रों के लिये राज्यसभा में आवंटित किये गए स्थानों की सूची दी गई है। वर्तमान में यह सूची इस प्रकार है-

राज्यसभा की संरचना	संवैधानिक उपबंध	वर्तमान स्थिति
1. राज्यों एवं संघ राज्यक्षेत्रों के प्रतिनिधि	238	233 (229 सदस्य राज्यों से तथा 4 सदस्य संघ राज्यक्षेत्रों से)
2. राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सदस्य	12	12
अधिकतम सदस्य	250	245

राज्यसभा में राज्यों को आबंटित स्थान

क्रम संख्या	राज्य	स्थान
1.	आंध्र प्रदेश	11
2.	अरुणाचल प्रदेश	01
3.	असम	07
4.	बिहार	16
5.	छत्तीसगढ़	05
6.	गोवा	01
7.	गुजरात	11
8.	हरियाणा	05
9.	हिमाचल प्रदेश	03
10.	झारखंड	06
11.	कर्नाटक	12
12.	केरल	09
13.	मध्य प्रदेश	11
14.	महाराष्ट्र	19
15.	मणिपुर	01
16.	मेघालय	01
17.	मिज़ोरम	01
18.	नागालैंड	01
19.	ओडिशा	10
20.	पंजाब	07
21.	राजस्थान	10
22.	सिक्किम	01
23.	तमिलनाडु	18
24.	तेलंगाना	07
25.	त्रिपुरा	01
26.	उत्तराखंड	03
27.	उत्तर प्रदेश	31
28.	पश्चिम बंगाल	16

12 राज्य विधायिका (The State Legislature)

संविधान के भाग-6 में **अनुच्छेद 168 से अनुच्छेद 212** तक 'राज्य का विधानमंडल' का उल्लेख है।

संविधान निर्माताओं ने केंद्र की तरह राज्यों के लिये भी संसदीय प्रणाली को उपयुक्त समझा था। जिन राज्यों में एक ही सदन है, उस सदन को 'विधानसभा' (Legislative Assembly) कहा जाता है। 'विधानपरिषद' (Legislative Council) दूसरा सदन है जो कुछ ही राज्यों में है। केंद्रीय विधायिका से तुलना करें तो कहा जा सकता है कि 'विधानसभा' की भूमिका प्राय: 'लोकसभा' के समान है जबकि 'विधानपरिषद' की 'राज्यसभा' के समान।

अनुच्छेद 168 घोषित करता है कि प्रत्येक राज्य के लिये एक विधानमंडल (Legislature) होगा। विधानमंडल में राज्यपाल और विधानसभा अभिन्न हिस्से होंगे। जिन राज्यों में विधानपरिषद हैं, उनका विधानमंडल इन दोनों के साथ उसे जोड़ने से पूरा होगा।

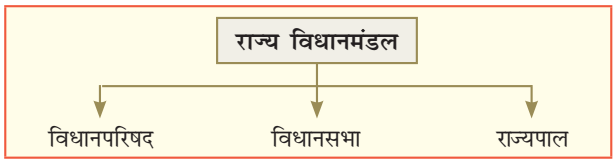

विधानपरिषद (The Legislative Council)

विधानपरिषद से संबंधित विशिष्ट प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 169 तथा अनुच्छेद 171 में दिये गए हैं।

सृजन तथा उत्सादन *(Creation and Abolition)*

अनुच्छेद 169 में बताया गया है कि किसी राज्य में विधानपरिषद के सृजन या उत्सादन की क्या प्रक्रिया होगी। इसके अनुसार, संसद विधि द्वारा किसी राज्य में विधानपरिषद का सृजन या उत्सादन करने के लिये विधि बना सकेगी, बशर्ते उस राज्य की विधानसभा ने इस आशय का संकल्प पारित किया हो। ऐसा संकल्प विधानसभा की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की संख्या के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित होना अनिवार्य है।

अनुच्छेद 169(3) में स्पष्ट किया गया है कि यदि संसद द्वारा ऐसे संकल्प के अनुरूप विधानपरिषद के सृजन या उत्सादन के लिये कोई विधि बनाई जाती है तो उसे अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिये संविधान का संशोधन नहीं समझा जाएगा।

मूल संविधान में कुल 8 राज्यों- आंध्र प्रदेश, बिहार, बंबई (अब महाराष्ट्र), तमिलनाडु, मैसूर (अब कर्नाटक), पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल के लिये द्विसदनीय विधानमंडल की व्यवस्था की गई थी जबकि बाकी राज्यों के लिये एक ही सदन अर्थात् विधानसभा की। आगे चलकर, दो सदनों वाले राज्यों में से कुछ ने महसूस किया कि उनके विधायी कार्यों के लिये एक सदन पर्याप्त है, विधानपरिषद की विशेष उपयोगिता नहीं है। ऐसे राज्यों ने संविधान के अनुच्छेद 169 के अनुसार विधानपरिषद के उत्सादन के लिये संकल्प पारित करके संसद को सौंप दिया तथा संसद ने विधि द्वारा उन राज्यों से विधानपरिषदों को हटा दिया। इस उपबंध के तहत संसद ने पंजाब (1969), पश्चिम बंगाल (1969), आंध्र प्रदेश (1985) तथा तमिलनाडु (1986) की विधानपरिषदों के उत्सादन के लिये अधिनियम पारित किये। इनमें से आंध्र प्रदेश ने बाद में पुन: विधानपरिषद के गठन का संकल्प पारित किया जिसके प्रत्युत्तर में 2005 में संसद ने 'आंध्र प्रदेश विधानपरिषद अधिनियम, 2005' पारित किया। 1985 में उत्सादित किये जाने के बाद आंध्र प्रदेश की विधानपरिषद 2007 में पुन: गठित की गई।

वर्तमान में 6 राज्यों में विधानपरिषद अस्तित्व में है जबकि शेष 22 राज्यों में एक ही सदन (विधानसभा) है। विधानपरिषद वाले राज्य हैं- बिहार, महाराष्ट्र, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश तथा तेलंगाना।

नोट: जम्मू-कश्मीर राज्य पुनर्गठन अधिनियम 2019 के लागू हो जाने (31 अक्टूबर 2019) के बाद जम्मू-कश्मीर की विधानपरिषद समाप्त हो गई है।

सबसे विचित्र स्थिति मध्य प्रदेश की है। संविधान के 'सातवें संशोधन, 1956' द्वारा मध्य प्रदेश के लिये विधानपरिषद गठित करने का उपबंध किया गया था किंतु अभी तक इस उपबंध को प्रवृत्त करने के लिये अधिसूचना जारी नहीं की गई है। इसलिये मध्य प्रदेश में विधानपरिषद का गठन अभी भी लंबित है।

तमिलनाडु की स्थिति भी रोचक है। वहाँ 1986 में विधानपरिषद का उत्सादन किया गया था पर अप्रैल 2010 में द्रमुक (DMK) की सरकार ने पुन: उसके गठन का संकल्प पारित किया। उसके प्रत्युत्तर में संसद ने जून 2010 में 'तमिलनाडु विधानपरिषद अधिनियम' पारित कर दिया जो वहाँ विधानपरिषद के गठन की मंजूरी देता था। पर, विधानपरिषद के गठन से पहले ही द्रमुक की सरकार गिर गई और चुनावों के बाद अन्नाद्रमुक की सरकार बन गई। नई सरकार ने विधानसभा में इस आशय का संकल्प पारित कर दिया कि तमिलनाडु में विधानपरिषद के पक्ष में पारित किया गया संकल्प वापस लिया जाता है। इसके प्रत्युत्तर में मई 2012 में केंद्र सरकार ने राज्यसभा में 'तमिलनाडु विधानपरिषद (निरसन) विधेयक' पेश किया है जो अभी पारित होने की प्रक्रिया में है। वर्तमान स्थिति यह है कि संविधान तमिलनाडु में विधानपरिषद के गठन की अनुमति देता है, पर व्यवहार में वहाँ एक ही सदन (विधानसभा) है।

13 आपात्कालीन उपबंध (Emergency Provisions)

सामान्य परिस्थितियों में भारतीय संविधान संघात्मक ढाँचे का अनुसरण करता है परंतु हमारे संविधान निर्माताओं को इस बात का अहसास था कि यदि देश की सुरक्षा खतरे में हो या उसकी एकता और अखंडता को खतरा हो, तो यह ढाँचा परेशानी का कारण भी बन सकता है। ऐसी परिस्थितियों में देश की रक्षा के लिये परिसंघ के सिद्धांतों को त्याग दिया जाता है और जैसे ही देश की स्थितियाँ सामान्य होती हैं, संविधान पुनः अपने सामान्य रूप में कार्य करने लगता है।

भारतीय संविधान निर्माताओं ने संविधान के भाग-18 के अनुच्छेद 352 से 360 में तीन प्रकार के आपात्कालीन प्रावधानों का उल्लेख किया है– ये प्रावधान केंद्र को किसी भी असामान्य स्थिति से प्रभावी रूप से निपटने में सक्षम बनाते हैं। संविधान में इन प्रावधानों को जोड़ने का मुख्य उद्देश्य देश की संप्रभुता, एकता, अखंडता, संविधान की सुरक्षा व लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था की सुरक्षा करना है।

- युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की स्थिति से उत्पन्न आपात् जिसे आम बोलचाल में राष्ट्रीय आपात् कहा जाता है। हालाँकि संविधान में इसके लिये आपात् की उद्घोषणा शीर्षक का प्रयोग हुआ है।
- राज्यों में संवैधानिक तंत्र के विफल हो जाने की स्थिति से उत्पन्न परिस्थिति। प्रचलित भाषा में इसे राष्ट्रपति शासन के नाम से जाना जाता है। संविधान में इसके लिये कहीं भी आपात् या आपात्काल शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है।
- ऐसी स्थिति जिसमें भारत का वित्तीय स्थायित्व या साख संकट में हो, तो उसे वित्तीय आपात् कहते हैं। संविधान में भी इसे वित्तीय आपात् कहा गया है।

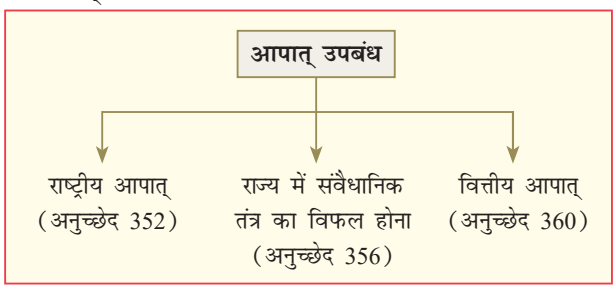

राष्ट्रीय आपात् (National Emergency)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 352 के अनुसार राष्ट्रपति को आपात् की उद्घोषणा करने की शक्ति प्राप्त है यदि उसे यह समाधान हो जाता है कि युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण भारत या उसके किसी क्षेत्र की सुरक्षा संकट में है। ज़रूरी नहीं है कि संकट वास्तव में मौजूद हो, यदि संकट सन्निकट है तो भी उद्घोषणा की जा सकती है। 44वें संविधान संशोधन द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्रपति ऐसी उद्घोषणा केवल तभी कर सकता है जब संघ का मंत्रिमंडल (Cabinet) इस संदर्भ में अपने विनिश्चय की सूचना लिखित रूप में प्रदान करे।

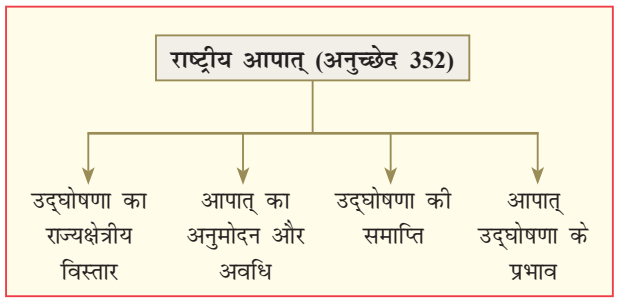

मूल संविधान में आपात् की उद्घोषणा का आधार 'युद्ध', 'बाह्य आक्रमण' और 'आंतरिक अशांति था', लेकिन 44वें संविधान संशोधन के द्वारा 'आंतरिक अशांति' के स्थान पर 'सशस्त्र विद्रोह' को आधार बनाया गया और इस प्रकार युद्ध, बाह्य आक्रमण एवं सशस्त्र विद्रोह के आधार पर आपात्काल घोषित किया जा सकता है।

मूल संविधान में इस बात की कोई चर्चा नहीं थी कि आपात् की एक ही उद्घोषणा की जा सकती है या एकाधिक उद्घोषणाएँ भी संभव हैं। 38वें संविधान संशोधन, 1975 द्वारा अनुच्छेद 352 में एक नया खंड जोड़कर यह स्पष्ट किया गया कि राष्ट्रपति को इस अनुच्छेद के तहत विभिन्न आधारों पर एक ही समय में विभिन्न घोषणाएँ करने की शक्ति होगी चाहे राष्ट्रपति ने पहले से कोई उद्घोषणा कर रखी हो और वह प्रवर्तन में हो।

नोट: भारतीय संविधान में केवल अनुच्छेद 352 में ही एक बार मंत्रिमंडल (Cabinet) शब्द का प्रयोग हुआ है, शेष सभी स्थानों पर मंत्रिपरिषद शब्द का उल्लेख है।

उद्घोषणा का राज्यक्षेत्रीय विस्तार *(Territorial Extension of the Proclamation)*

मूल संविधान में विशिष्ट तौर पर यह नहीं कहा गया था कि आपात् की उद्घोषणा को भारत के किसी विशिष्ट भाग तक भी सीमित किया जा सकता है। इसका अर्थ यह निकाला जाता था कि समस्या चाहे देश के किसी विशिष्ट भाग तक ही सीमित क्यों न हो परंतु आपात् की उद्घोषणा पूरे देश के लिये की जाएगी। 42वें संविधान संशोधन, 1976 द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह आपात् की उद्घोषणा को पूरे भारत या उसके किसी विशिष्ट क्षेत्र तक भी सीमित रख सकता है। यह संशोधन युक्तियुक्त और तर्कसंगत है। जैसे यदि संकट लद्दाख पर हो तो यह आवश्यक नहीं कि कन्याकुमारी में भी आपात् लागू किया जाए। संकट किस क्षेत्र पर है, इसका निर्णय राष्ट्रपति करेगा। यहाँ राष्ट्रपति के निर्णय का अर्थ मंत्रिमंडल के निर्णय से है।

14 भारत की न्यायपालिका
(Judiciary of India)

संविधान में न्यायपालिका के सभी स्तरों से जुड़े प्रावधान अलग-अलग भागों व अनुच्छेदों में दिये गए हैं। सर्वोच्च न्यायालय से जुड़े उपबंध अनुच्छेद 124-147 (भाग V) में, उच्च न्यायालयों से जुड़े उपबंध अनुच्छेद 214-232 (भाग VI) में, अधीनस्थ न्यायालयों के प्रावधान अनुच्छेद 233-237 (भाग VI) में, जबकि अधिकरणों से संबंधित प्रावधान अनुच्छेद 323(क) व 323(ख) [भाग-XIV(क)] में दिये गए हैं। शेष प्रयोग विभिन्न अधिनियमों (Acts) या कार्यकारी आदेशों (Executive Orders) के आधार पर किये जा रहे हैं।

भारत की न्यायपालिका : एक परिचय (Judiciary of India : An Introduction)

न्यायपालिका के विभिन्न स्तर *(Different Levels of Judiciary)*

भारत में न्यायपालिका के तीन प्रमुख स्तर हैं। सबसे ऊपर सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) है, जिसका प्रमुख कार्य केंद्र-राज्य विवादों तथा विभिन्न राज्यों के आपसी विवादों पर विचार करना है। नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करना, संविधान की अंतिम व्याख्या करना तथा सिविल व आपराधिक मामलों में अपीलों की अंतिम सुनवाई करना भी इसके कार्यों में शामिल है।

सर्वोच्च न्यायालय के बाद दूसरे स्तर पर उच्च न्यायालय (High Court) हैं, जो किसी राज्य की न्यायपालिका के सर्वोच्च स्तर पर स्थित हैं। केंद्र-राज्य विवादों या विभिन्न राज्यों के आपसी विवादों पर इनका क्षेत्राधिकार नहीं है, किंतु इन विषयों को छोड़कर ये राज्य की सीमाओं के भीतर प्राय: वे सभी कार्य करते हैं जो सर्वोच्च न्यायालय देश के स्तर पर करता है। ध्यातव्य है कि उच्च न्यायालय न्यायिक दृष्टि से सर्वोच्च न्यायालय के अधीन होते हैं, किंतु प्रशासनिक दृष्टि से वे स्वतंत्र हैं। सर्वोच्च न्यायालय उनके निर्णयों को बदल सकता है, उनके न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा स्थानांतरण कर सकता है; पर उच्च न्यायालयों के प्रशासन को नियंत्रित नहीं कर सकता।

उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय को सम्मिलित रूप से 'उच्चतर न्यायपालिका' (Higher Judiciary) कहा जाता है। इसके विपरीत, उच्च न्यायालयों से नीचे के सभी न्यायालयों को सम्मिलित रूप से 'निम्नतर न्यायपालिका' (Lower Judiciary) या 'अधीनस्थ न्यायपालिका' (Subordinate Judiciary) कहा जाता है।

अधीनस्थ न्यायपालिका के भी कई उप-स्तर हैं। इनमें सर्वोच्च स्तर पर ज़िला एवं सत्र न्यायालय (District and Session Court) होता है तथा उसके नीचे दो से तीन स्तरों पर उसके अधीन काम करने वाले अन्य न्यायालय। ये सभी न्यायालय प्रशासनिक दृष्टि से उच्च न्यायालय के प्रत्यक्ष नियंत्रण में काम करते हैं। संबंधित उच्च न्यायालय इनके निर्णयों की अपील तो सुनता ही है; साथ ही उनके प्रशासन की निगरानी भी करता है। अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों का स्थानांतरण, उनके कार्य की समीक्षा आदि उसी के हाथ में होती है।

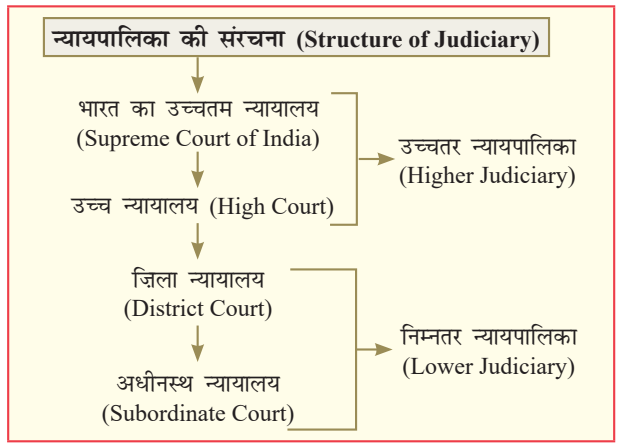

न्यायपालिका के इस परंपरागत ढाँचे के अलावा कुछ अधिकरण (Tribunals) भी स्थापित किये जाते हैं जो किसी विशेष विभाग या विशेष अधिनियम से जुड़े मामलों को देखते हैं। अधिकरणों की व्यवस्था मूल संविधान में नहीं थी हालाँकि अधिनियमों के माध्यम से उनके गठन की प्रक्रिया संविधान बनने के कुछ वर्ष बाद ही शुरू हो गई। संविधान के '42वें संशोधन अधिनियम, 1976' के माध्यम से अधिकरणों को संवैधानिक स्तर प्रदान करने के लिये संविधान में भाग XIV-क जोड़ा गया, जिसमें दो अनुच्छेद 323(क) तथा 323(ख) शामिल हैं। संवैधानिक स्तर के अधिकरणों का गठन इन्हीं अनुच्छेदों के तहत बनाए गए अधिनियमों के अनुसार किया जाता है। हालाँकि अभी भी अधिकांश मामलों में सामान्य अधिनियमों के माध्यम से अधिकरण गठित करने का चलन है। अधिकरणों की ही तरह कुछ आयोग, बोर्ड तथा फोरम भी कार्यरत हैं जो अपनी कार्य-शैली में अधिकरणों के काफी नज़दीक हैं।

इसके अलावा पिछले कुछ समय में न्यायपालिका में कई नए प्रयोग भी किये गए हैं, जैसे- पारिवारिक अदालत (Family Court), लोक अदालत (Lok Adalat), उपभोक्ता अदालत (Consumer Court), बाल व किशोर न्यायालय (Child and Juvenile Court), फास्ट ट्रैक अदालत (Fast Track Court), मोबाइल अदालत (Mobile Court), ई-अदालत (E-court), ग्राम न्यायालय (Gram Nyayalaya) इत्यादि।

इन सभी से अलग एक व्यवस्था सेना न्यायालयों की भी है। ये तकनीकी तौर पर न्यायपालिका के अंग नहीं हैं पर कार्य की दृष्टि से इसके समान हैं। सेना न्यायालय सैनिकों से जुड़े मामलों पर विचार करते हैं। इनमें न्यायाधीशों की भूमिका सेना के ही वरिष्ठ अफसर निभाते हैं। हाल ही में इनके निर्णयों के विरुद्ध अपील के लिये एक सशस्त्र सेना अधिकरण भी स्थापित किया गया है।

15 संघवाद एवं केंद्र-राज्य संबंध
(Federalism and Centre–State Relations)

संघवाद (Federalism)

ध्यातव्य है कि भारतीय संविधान का संघीय चरित्र इसकी प्रमुख विशेषताओं में से एक है, हालाँकि भारतीय संविधान में कहीं भी महासंघ या फेडरेशन (Federation) शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। बल्कि इसके स्थान पर भारतीय संविधान में भारत को 'राज्यों के संघ' के रूप में संबोधित किया गया है। दरअसल, कई जानकार मानते हैं कि भारत एक अर्द्ध-संघीय देश है अर्थात् यह एक ऐसा संघीय राज्य है जिसमें एकात्मक सरकार की भी कुछ विशेषताएँ मौजूद हैं।

क्या है? *(What is?)*

ज्ञातव्य है कि संघवाद (Federalism) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'Foedus' से हुई है जिसका अर्थ है एक प्रकार का समझौता या अनुबंध।

वास्तव में महासंघ दो तरह की सरकारों के बीच सत्ता साझा करने और उनके संबंधित क्षेत्रों को नियंत्रित करने हेतु एक समझौता है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि संघवाद सरकार का वह रूप है जिसमें देश के भीतर सरकार के कम-से-कम दो स्तर मौजूद हैं- पहला केंद्रीय स्तर पर और दूसरा स्थानीय या राज्यीय स्तर पर।

भारत की स्थिति में संघवाद को स्थानीय, केंद्रीय और राज्य सरकारों के मध्य अधिकारों के वितरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

सहकारी बनाम प्रतिस्पर्द्धी संघवाद *(Cooperative Vs Competitive Federalism)*

केंद्र और राज्य सरकार के बीच संबंधों के आधार पर संघवाद की अवधारणा को दो भागों में विभाजित किया गया है (1) सहकारी संघवाद (2) प्रतिस्पर्द्धी संघवाद।

सहकारी संघवाद

सहकारी संघवाद में केंद्र व राज्य एक-दूसरे के साथ क्षैतिज संबंध स्थापित करते हुए एक-दूसरे के सहयोग से अपनी समस्याओं को हल करने का प्रयास करते हैं। सहकारी संघवाद की इस अवधारणा में यह स्पष्ट किया जाता है कि केंद्र और राज्य में से कोई भी किसी से श्रेष्ठ नहीं है।

- जानकारों का मानना है कि यह राष्ट्रीय नीतियों के निर्माण और कार्यान्वयन में राज्यों की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिये एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है।
- संघ और राज्य संवैधानिक रूप से संविधान की 7वीं अनुसूची में निर्दिष्ट मामलों पर एक-दूसरे के साथ सहयोग करने हेतु बाध्य हैं।

प्रतिस्पर्द्धी संघवाद

- प्रतिस्पर्द्धी संघवाद में केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के मध्य संबंध लंबवत् होते हैं, जबकि राज्य सरकारों के मध्य संबंध क्षैतिज होते हैं।
- गौरतलब है कि प्रतिस्पर्द्धी संघवाद की अवधारणा को देश में 1990 के दशक के आर्थिक सुधारों के बाद से महत्त्व प्राप्त हुआ।
- प्रतिस्पर्द्धी संघवाद में राज्यों को आपस में और केंद्र के साथ लाभ के उद्देश्य से प्रतिस्पर्द्धा करनी होती है।
- सभी राज्य धन और निवेश को आकर्षित करने के लिये एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्द्धा करते हैं, ताकि विकास संबंधी गतिविधियों को बढ़ावा दिया जा सके है।
- सामान्यत: निवेशक अपने पैसे का निवेश करने के लिये अधिक विकसित राज्यों को पसंद करते हैं।
- उल्लेखनीय है कि प्रतिस्पर्द्धी संघवाद भारतीय संविधान की मूल संरचना का हिस्सा नहीं है।

केंद्र-राज्य संबंध (Centre-State Relation)

केंद्र-राज्य संबंध से आशय किसी लोकतांत्रिक राज्य में केंद्र एवं उसकी इकाइयों (राज्यों) के मध्य आपसी संबंधों से है। लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के उदय के साथ राजव्यवस्था में केंद्र-राज्य संबंधों की एक नई अवधारणा का जन्म हुआ। दोहरे शासन की व्यवस्था संघवाद की एक प्रमुख विशेषता है। भारत में भी संविधान ने शासन के दो स्तरों की स्थापना की है, जिसमें केंद्र में एक संघीय सरकार है तथा चारों तरफ परिधि में राज्य सरकारें हैं।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद-1 में उल्लेख किया गया है कि भारत अर्थात् इंडिया राज्यों का संघ होगा। भारत में शासन की संघीय प्रणाली को अपनाया गया है जिसमें समस्त शक्तियों को केंद्र एवं राज्यों के बीच संविधान के प्रावधानों के अनुसार विभाजित किया गया है। संविधान के **भाग-XI** में **संघ और राज्यों के बीच संबंध** के दो अध्याय दिये गए हैं, जिसके पहले अध्याय में **विधायी संबंध** (अनुच्छेद 245–255) तथा दूसरे अध्याय में **प्रशासनिक संबंध** (अनुच्छेद 256–263) का ज़िक्र है। जहाँ तक **वित्तीय संबंधों** का सवाल है तो उनकी चर्चा संविधान के भाग-XII के कुछ हिस्सों (मुख्यत: अनुच्छेद 268–293) में की गई है।

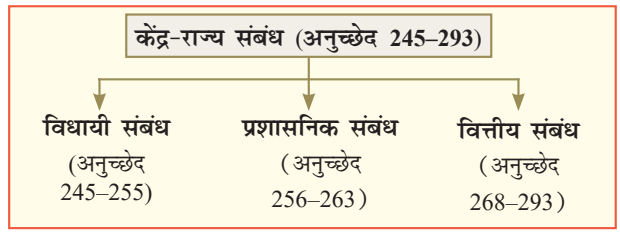

- भारतीय संविधान का स्वरूप संघात्मक है।
- भारत के लिये फेडरेशन शब्द की जगह यूनियन (संघ) शब्द का प्रयोग किया गया है। राज्यों के संघ का आशय यह है कि भारतीय संघ राज्यों के बीच सहमति का प्रतिफल नहीं है, अर्थात् राज्यों को यह अधिकार नहीं है कि वे भारतीय संघ से स्वयं को पृथक् कर सकें।

16 पंचायती राज एवं नगरीय स्वशासन संस्थाएँ
(Panchayati Raj and Urban Self-Government Institutions)

लोकतंत्र वास्तविक अर्थों में तभी सफल होता है जब राजनीतिक शक्ति आम आदमी के हाथों में पहुँच जाती है। इसका आदर्श रूप यह होना चाहिये कि आम आदमी के पास स्थानीय मुद्दों, जैसे- पानी, सड़क, सफाई आदि की प्रशासन में निर्णायक भूमिका हो तथा व्यापक स्तर के मुद्दों के लिये उसे अपना प्रतिनिधि चुनने तथा उससे संवाद व सवाल-जवाब करने का हक हो तथा जो उसकी ओर से कानून बनाने तथा प्रशासन चलाने की प्रक्रिया में शामिल हो। आजकल इस आदर्श को 'सहभागितामूलक लोकतंत्र' (Participatory Democracy) कहा जाता है।

वैश्विक स्तर पर सहभागितामूलक लोकतंत्र की प्रगति और विकास हो रहा है और वह हर देश के सत्ताधारियों को बाध्य कर रही है कि वे शक्ति का अधिकाधिक विकेंद्रीकरण करे। सामान्य राय यह बनती जा रही है कि स्थानीय महत्त्व के मुद्दों पर निर्णय की शक्ति उसी स्तर की लोकतांत्रिक संस्थाओं को सौंपी जानी चाहिये और ऊपर के स्तरों पर वही काम किये जाने चाहियें जो नीचे के स्तरों पर न किये जा सकें। भारत में भी 'लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण' और 'स्थानीय स्वशासन' (Local Self Government) की धारणा नई नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में यही धारणा 'पंचायती राज' कहलाती है, जबकि शहरी स्वशासन संस्थाओं को 'नगरपालिका' कहा जाता है।

विकेंद्रीकरण व्यवस्था के आधार पर ही सच्चे लोकतंत्र की कल्पना की जा सकती है जो लोकतंत्र का मूल आधार है। इस संदर्भ में विभिन्न विचारकों के विचार निम्नलिखित हैं-

- **एल.डी. व्हाइट के अनुसार,** "जब सत्ता को ऊपरी स्तर से निचले स्तर पर ले जाया जाता है तब उसे विकेंद्रीकरण कहते हैं।"
- **हेनरी फेयोल के अनुसार,** "जिस संकल्पना में निचले स्तर के लोगों के महत्त्व में वृद्धि होती है, उसे विकेंद्रीकरण कहते हैं।"
- **महात्मा गांधी के अनुसार,** "लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण में **ग्राम स्वराज** की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।"
- गांधी जी का मानना था कि प्रत्येक आँख से आँसू पोंछना ही सच्चे लोकतंत्र का पर्याय है, क्योंकि भारत की अधिकांश जनता गाँवों में निवास करती है, जिनकी परिस्थिति एवं समस्याएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इसके निदान के लिये ग्रामीण जनता की सत्ता में अधिक-से-अधिक भागीदारी होना आवश्यक है, जिससे वे अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं ढूंढ सकें।

गांधी जी ने कहा था कि यदि गाँव नष्ट हो गए तो भारत भी नष्ट हो जाएगा। इसी प्रकार पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि यदि हमारी स्वाधीनता को जनता की आवाज़ की प्रतिध्वनि बनना है तो पंचायतों को जितनी अधिक शक्ति मिले, जनता के लिये उतनी ही भली है। भारत में पंचायतें प्राचीन-काल से ही किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रही हैं, जिसे बहुत पुरानी पंच परमेश्वर की अवधारणा से जोड़ा गया है। इसी संदर्भ में कहा जाता है कि भारत गाँवों में बसता है।

पंचायती राज (Panchayati Raj)

ध्यातव्य है कि जो देश संघात्मक (Federal) राजव्यवस्था को अपनाते हैं, उनके संविधान में सत्ता के दो स्तर होते हैं- संघ तथा राज्य। अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया जैसे देशों में यही व्यवस्था कार्य करती है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 1 में भी साफ तौर पर कहा गया है कि "इंडिया अर्थात् भारत राज्यों का संघ होगा" जिसमें निहित है कि शक्ति का वितरण संघ व राज्यों के बीच किया जाएगा। संघात्मक देशों में स्थानीय स्वशासन का ढाँचा तय करने की शक्ति सामान्यत: राज्यों के हाथ में होती है और इसमें केंद्र का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। भारत में भी संविधान लागू होने के समय (1950) से यही व्यवस्था थी, किंतु इसमें निहित कमज़ोरियों को देखते हुए तथा जनता की सीधी भागीदारी का महत्त्व समझते हुए हमारी संसद ने (अधिकांश राज्यों के विधानमंडलों के सहयोग से) 1992-93 के दौरान दो महत्त्वपूर्ण संविधान संशोधन किये, जिन्हें '73वाँ' तथा '74वाँ संशोधन' कहा जाता है। इन संशोधनों ने हमारे संविधान में सत्ता का एक तीसरा स्तर भी निर्धारित कर दिया, जिसे गाँवों के लिये 'पंचायत' और शहरों के लिये 'नगरपालिका' कहा गया। इन संशोधनों ने हमारी राजव्यवस्था को संघात्मक ढाँचे से एक कदम और आगे बढ़ा दिया, क्योंकि अब हमारे संविधान में सत्ता के तीन स्तर निर्धारित हैं- संघ, राज्य तथा स्थानीय स्वशासन। सत्ता के विकेंद्रीकरण को लक्षित इन प्रयासों की कुछ सीमाएँ तो हैं, किंतु लोकतंत्र की जड़ों तक पहुँचने की दृष्टि से इन्हें 'मौन क्रांति' की संज्ञा देना गलत न होगा।

पंचायती राज का क्रमागत विकास
(Gradual Development of Panchayati Raj)

प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में पंचायतों के रूप में स्थानीय स्वशासन की लंबी परंपरा रही है पर ब्रिटिशों के आगमन के बाद स्थिति बदलने लगी। परंपरागत पंचायतें अंग्रेज़ों के लिये अनुपयोगी थीं। 1773 के 'रेग्यूलेटिंग एक्ट' के तहत गाँवों के लिये जो ज़मींदार नियुक्त किये गए थे, वे पंचायतों से स्वतंत्र थे और सरकार के प्रति जवाबदेह थे। आगे चलकर सिविल तथा आपराधिक न्यायालयों के गठन के साथ पंचायतों की भूमिका और कमज़ोर हो गई।

1857 के बाद ब्रिटिश सरकार को समझ में आने लगा कि स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के बिना इतने बड़े देश का शासन चलाना उसके लिये संभव नहीं है। 1882 में लॉर्ड रिपन ने स्थानीय स्वशासन संबंधी प्रस्ताव दिया, जिसे भारतीय स्वशासन संस्थाओं के इतिहास में 'मैग्नाकार्टा' कहा जाता है। इस प्रस्ताव के तहत रिपन ने नगरीय स्थानीय संस्थाओं के साथ-साथ ग्राम पंचायतों, न्याय पंचायतों तथा ज़िला स्तर पर ज़िला बोर्ड के गठन का प्रस्ताव रखा था।

1919 में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के रूप में 'भारत सरकार अधिनियम, 1919' पारित हुआ। इसके तहत प्रांतों में दोहरे शासन

17 संविधान का संशोधन
(Amendment of the Constitution)

भारत में संविधान संशोधन की शक्ति संसद को दी गई है, इसका प्रावधान संविधान के भाग XX के अनुच्छेद 368 में किया गया है। भारतीय संविधान में संशोधन की यह प्रक्रिया दक्षिण अफ्रीका के संविधान से ग्रहण की गई है।

संशोधन की प्रक्रिया (Procedure of Amendment)

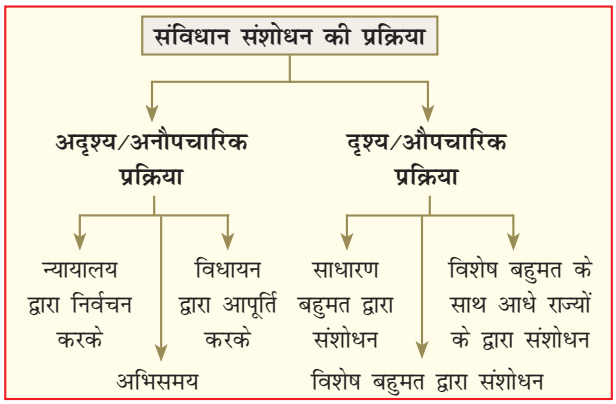

अदृश्य या अनौपचारिक प्रक्रिया *(Invisible or Informal Process)*

इस प्रक्रिया में घोषित तौर पर संविधान में संशोधन नहीं किया जाता फिर भी संविधान में परिवर्तन आ जाता है। इसके मुख्यत: तीन तरीके हैं-

1. **न्यायालय द्वारा निर्वचन करके:** यदि उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय संविधान के किसी उपबंध की मौलिक व्याख्या कर दे तो वह व्याख्या ही उस प्रावधान का वास्तविक अर्थ मानी जाती है, जैसे- विभिन्न लोकहित वादों में संविधान के अनुच्छेद 21 की व्याख्या में बहुत सी ऐसी बातें जुड़ी हैं जो मूल संविधान में नहीं थीं।
2. **अभिसमय अर्थात् संवैधानिक परंपराओं के पालन द्वारा:** राष्ट्रपति की जेबी वीटो या 'पॉकेट वीटो', राष्ट्रपति- मंत्रिपरिषद संबंध, बहुमत स्पष्ट न होने पर राष्ट्रपति द्वारा सबसे बड़े दल के नेता को आमंत्रित करना आदि अभिसमय के ही उदाहरण हैं।
3. **विधायन द्वारा आपूर्ति करके:** जैसे- नागरिकता अधिनियम, 1955 आदि।

दृश्य या औपचारिक प्रक्रिया *(Visible or Formal Process)*

इस प्रक्रिया में संविधान में बताए गए तरीके से संशोधन होता है। यह परिवर्तन की घोषित और प्रकट प्रक्रिया है। भारत के संविधान में यह तीन तरीके से संभव है-

1. कुछ उपबंधों में साधारण बहुमत द्वारा
2. कुछ उपबंधों में विशेष बहुमत द्वारा
3. कुछ उपबंधों में विशेष बहुमत के साथ आधे राज्यों के विधानमंडलों के अनुसमर्थन द्वारा संशोधन

संसद के साधारण बहुमत द्वारा संशोधन

संविधान के जिन उपबंधों का विशेष संवैधानिक महत्त्व नहीं है उनमें संशोधन करने के लिये अत्यंत लचीली प्रक्रिया अपनाई गई है। ध्यातव्य है कि इन उपबंधों में संशोधन को अनुच्छेद 368 के तहत संविधान का संशोधन नहीं माना जाता है। ये उपबंध दो प्रकार के हैं-

1. **जहाँ संविधान का पाठ नहीं बदलता परंतु विधि में परिवर्तन आ जाता है:** जैसे-अनुच्छेद 11 के तहत नागरिकता संबंधी विधि बनाने की शक्ति संसद को है परंतु अनुच्छेद 5 से 10 तक के अनुच्छेद वैसे ही लिखे रहेंगे। अनुच्छेद 124 में आज भी लिखा है कि भारत का उच्चतम न्यायालय एक मुख्य न्यायाधीश और सात से अनधिक न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा, जबकि संसद ने न्यायाधीशों की संख्या 7 से बढ़ाकर 34 (मुख्य न्यायाधीश सहित) कर दी है।
2. **जहाँ संविधान का पाठ परिवर्तित हो जाता है:** इनमें से कुछ प्रमुख उपबंध निम्नलिखित हैं-
   - नए राज्य का निर्माण या विद्यमान राज्यों के नाम या सीमा में परिवर्तन।
   - पहली, चौथी, पाँचवीं, छठी अनुसूची के विषय।
   - विधानपरिषद का सृजन या उत्सादन।
   - संघ राज्यक्षेत्रों के लिये विधानमंडल या मंत्रिपरिषद या दोनों का सृजन।
   - राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, न्यायाधीशों, कुछ अन्य संवैधानिक पदों के वेतन-भत्ते आदि।
   - संसदीय विशेषाधिकार का निर्धारण।
   - अनुच्छेद 343 में अंग्रेज़ी के प्रयोग का 15 वर्ष से अधिक के लिये विस्तार।

संसद के विशेष बहुमत द्वारा संशोधन

जो उपबंध 'साधारण बहुमत द्वारा संशोधन' और भारत के संघीय ढाँचे से संबंधित उपबंधों के अंतर्गत नहीं आते हैं उन सभी में विशेष बहुमत से संशोधन होता है। विशेष बहुमत का तात्पर्य है कि ऐसे संशोधन विधेयक को-

- प्रत्येक सदन में 'उपस्थित और मतदान करने वाले' कम-से-कम दो-तिहाई (2/3) सदस्यों का समर्थन प्राप्त होना चाहिये। 'उपस्थित तथा मतदान करने वाले' सदस्यों का अर्थ है कि यदि कुछ सदस्य मतविभाजन के समय उपस्थित हों परंतु मतदान में हिस्सा न लें तो दो-तिहाई (2/3) की गणना के लिये उन्हें शामिल नहीं किया जाएगा। स्पष्टत: (2/3) की गणना में उन्हीं सदस्यों की गिनती होगी जो न केवल उपस्थित हो बल्कि मतदान में भी भाग लें।

18 भारत में लोकतांत्रिक राजनीति
(Democratic Politics in India)

भारत में संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपनाया गया है। यहाँ जनता को अपना प्रतिनिधि चुनने की स्वतंत्रता है। प्रतिनिधि किसी भी पृष्ठभूमि का हो सकता है। लोकतंत्र वह व्यवस्था है जिसमें जनता सरकार को निर्णय लेने, कानूनों का निर्माण करने और उन्हें लागू करने का अधिकार प्रदान करती है। जनसंख्या की अधिकता के कारण आज अप्रत्यक्ष लोकतंत्र का प्रचलन है जिसमें जनता अपने प्रतिनिधि के माध्यम से निर्णय प्रक्रिया में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करती है। राजतंत्र के विपरीत इन प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित सरकार को अपने निर्णयों एवं उठाए गए कदमों का जनता को आधार बताना होता है और सफाई देनी होती है। इस प्रकार जनता निर्णय प्रक्रिया में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करती है।

निर्णयन प्रक्रिया में नागरिकों की भागीदारी (Citizens Participation in Decision Making Process)

लोकतंत्र का मूलभूत विचार यह है कि लोग नियम बनाने में भागीदार बनकर स्वयं ही शासन करें। सभी नागरिकों की समान भागीदारी लोकतंत्र का आधार स्तंभ है। यह भागीदारी सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार द्वारा सुनिश्चित होती है। यदि कोई सरकार अपने सभी वयस्क नागरिकों को मताधिकार प्रदान नहीं करती है, तो वह निर्णय प्रक्रिया में नागरिकों को भागीदार होने से रोकती है और ऐसी सरकार लोकतांत्रिक नहीं कही जा सकती।

अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में चुनाव के माध्यम से जनता अपना प्रतिनिधि चुनकर शासन में भागीदार बनती है। चुनाव के अलावा सरकार के कार्यों में रुचि लेकर और उसकी समीक्षा करके भी जनता अपनी भागीदारी सुनिश्चित करती है। हड़ताल, जुलूस, धरना-प्रदर्शन, हस्ताक्षर अभियान, आंदोलन आदि के द्वारा जनता सरकार के गलत निर्णयों को उसके सामने लाती है और उन्हें बदलने के लिये मजबूर करती है। अखबार, पत्र-पत्रिकाएँ, टेलीविज़न, सोशल मीडिया आदि जनता के मुद्दों और सरकार के कार्यों पर बहुआयामी चर्चा करके जनभागीदारी को बढ़ावा देते हैं।

प्रजा और नागरिक की अवधारणा में मुख्य विभेद भागीदारी का ही है। प्रजा राज्य के निर्णयों से प्रभावित तो होती है परंतु निर्णय लेने में उसकी कोई भूमिका नहीं होती जबकि लोकतंत्र में नागरिक राज्य के सभी कार्यों में भागीदार होते हैं। जनता की भागीदारी की गुणवत्ता प्राय: लोकतंत्र के मूल्यांकन के लिये आवश्यक मानी जाती है। अलोकतांत्रिक सरकार लोक-सहभागिता के सिद्धांत पर आधारित नहीं होती। अलोकतांत्रिक सरकार की संस्थाएँ भी अपने कार्यों के लिये लोगों के प्रति उत्तरदायी नहीं होतीं। सत्तावादी, अधिनायकवादी, सर्वसत्तात्मक या सर्वाधिकारवादी सरकारें इसी का उदाहरण हैं। उनकी निर्णय प्रक्रिया पर लोक नियंत्रण व भागीदारी का अभाव है।

जनभागीदारी राजनीतिक प्रक्रिया और संस्थाओं को समझने का अवसर प्रदान करती है। इस प्रक्रिया में जनता न केवल सरकारों अथवा संस्थाओं बल्कि अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के बारे में अधिक शिक्षित एवं जागरूक बनती है। निर्णय प्रक्रिया में भागीदार बनाकर लोकतंत्र अपने नागरिकों को प्रभावशाली प्रशिक्षण देता है। जनता में स्वयं निर्माण की क्षमता से उत्पन्न होने वाला विश्वास प्रत्येक व्यक्ति में गरिमा एवं आत्मसम्मान उत्पन्न करता है। यह उनके व्यक्तित्व को भी बल प्रदान करता है। उससे जनता में बंधुत्व और सहयोग की भावना विकसित होती है।

लोकतांत्रिक सरकार का गठन वास्तव में लोगों की सामूहिक भागीदारी से होता है। इसलिये यह अत्यंत आवश्यक है कि लोगों में समाज के लिये वांछनीय व अवांछनीय का भेद करने की योग्यता हो। राज्य की गतिविधियों का व्यावहारिक ज्ञान एवं चेतना सदा लाभप्रद होते हैं। चुनाव के माध्यम से निर्णय में भागीदारी से सरकार के कार्य संचालन में नागरिकों की रुचि बनी रहती है। निर्णय की भागीदारी की सार्थकता तभी पूर्ण होगी जब सभी वयस्क नागरिक मतदान में भाग लें और आपस में खुलकर उम्मीदवारों की बहुपक्षीय योग्यताओं की तुलनात्मक चर्चा करें। राजनीतिक दलों और हित समूहों के सम्मिश्रण पर लोकतांत्रिक दृष्टि रखें। ऐसी स्थिति में निर्णय लेने वाली संस्थाएँ जनाकांक्षाओं के अनुरूप निर्णय लेती हैं और इस प्रकार निर्णय प्रक्रिया में जनभागीदारी की सार्थकता सिद्ध होती है।

निर्वाचन आयोग (Election Commission)

भारत में शासन की लोकतांत्रिक प्रणाली अपनाई गई है और इस प्रणाली में निर्वाचन लोकतंत्र का आधार होता है। लोकतंत्र में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष निर्वाचन का अत्यधिक महत्त्व है। निर्वाचन की दृष्टि से भारत ने अपने सभी वयस्क नागरिकों, जिनकी आयु 18 वर्ष से कम न हो और जो किसी विधि के अधीन चित्तविकृत, अपराध या भ्रष्ट आचरण के आधार पर अयोग्य घोषित न हो, को मतदाता सूची में अपना नाम दर्ज कराने का अधिकार है। यह उल्लेखनीय है कि 61वें संविधान संशोधन अधिनियम 1989 के अनुसार, मत देने की आयु को 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दिया गया। भारत में मत देने का अधिकार और निर्वाचित होने का अधिकार एक विधिक या कानूनी अधिकार है, यह मौलिक अधिकार नहीं हैं परंतु लोकतंत्र के लिये इसका अत्यधिक महत्त्व है। भारत के संविधान के भाग 15 के अनुच्छेद 324 से 329 में निर्वाचन संबंधी प्रावधान उल्लिखित हैं।

भारत का निर्वाचन आयोग एक संवैधानिक संस्था है। इसकी स्थापना 25 जनवरी, 1950 को की गई थी। भारत का निर्वाचन आयोग संसद और राज्य विधानमंडलों के चुनावों के अतिरिक्त राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति पदों के लिये होने वाले सभी निर्वाचनों का अधीक्षण, निर्देशन एवं नियंत्रण करता है।

19 लोक सेवाएँ (Public Services)

ब्रिटिश शासनकाल में भारत में लोक सेवाओं का विकास निम्नलिखित रूप में हुआ–

- 1854 में एक आयोग (The Committee on Indian civil services) का गठन किया गया था, जिसकी अध्यक्षता मैकाले द्वारा की गई थी। लोक सेवकों की नियुक्ति प्रतियोगी परीक्षा के आधार पर कराने के संबंध में सुझाव देने के लिये इस आयोग का गठन किया गया था।
- 1855 में लंदन में भारतीय सिविल सेवा की पहली प्रतियोगी परीक्षा आयोजित की गई थी।
- 1866 में भारत में सिविल सेवा परीक्षा की न्यूनतम आयु सीमा 18 वर्ष से घटाकर 17 वर्ष कर दी गई, जिसके विरोध में सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में 1866 में एक प्रबल आंदोलन हुआ जो भारत में सिविल सेवा में प्रवेश की आयु घटाने के संदर्भ में था।
- 1886 में वायसराय लॉर्ड डफरिन ने सर चार्ल्स एचिसन की अध्यक्षता में एचिसन आयोग का गठन किया, जो सिविल सेवा में आयु से संबंधित मामले के संदर्भ में था। आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये–
  - सिविल सेवा परीक्षाएँ एक साथ इंग्लैंड और भारत में न ली जाएँ।
  - सिविल सेवा परीक्षा में बैठने की अधिकतम आयु 23 वर्ष की जाए।
- 1912 में इस्लिंगटन की अध्यक्षता में एक अन्य आयोग का गठन हुआ। इस आयोग ने सुझाव दिया कि सिविल सेवा की प्रतियोगी परीक्षा इंग्लैंड तथा भारत में एक साथ ली जाए।
- सर्वप्रथम 1922 में सिविल सेवा की परीक्षा एक साथ लंदन तथा इलाहाबाद में आयोजित हुई।
- वे सेवाएँ जो भारत की केंद्रीय सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण में थीं, उन्हें केंद्रीय सेवाओं का नाम दिया गया तथा इन सेवाओं में नियुक्ति गवर्नर जनरल के द्वारा की जाती थी। सिविल सेवाओं को ऐसा व्यवस्थित रूप भारत शासन अधिनियम के द्वारा प्रदान किया गया।
- 1926 में ली आयोग के सुझाव पर पहली बार लोक सेवा आयोग की स्थापना केंद्रीय लोक सेवा आयोग के रूप में की गई, जिसमें एक अध्यक्ष तथा चार अन्य सदस्य थे। इसके प्रथम अध्यक्ष सर रोज वार्कर थे।
- भारत सरकार अधिनियम, 1935 के तहत इस केंद्रीय लोक सेवा आयोग का नाम बदलकर संघीय लोक सेवा आयोग कर दिया गया।
- 26 जनवरी, 1950 को भारतीय संविधान लागू होने पर लोक सेवा आयोग का नाम बदलकर संघ लोक सेवा आयोग (U.P.S.C) कर दिया गया।

लोक सेवाओं की संवैधानिक स्थिति (Constitutional Status of Public Services)

लोक सेवाओं की संवैधानिक स्थिति के संबंध में भारतीय संविधान के भाग-14 के अनुच्छेद 308 से 313 तक में भारत की लोक सेवाओं के संबंध में प्रावधान किया गया है।

- ब्रिटिश शासन के समान ही देश (भारत) की लोक सेवाएँ तीन भागों में विभक्त हैं, किंतु इनके नामों में परिवर्तन कर दिया गया। ये सेवाएँ निम्नलिखित हैं–
  - अखिल भारतीय सेवाएँ
  - केंद्रीय सेवाएँ
  - राज्य की सेवाएँ

भारत की प्रमुख लोक सेवाएँ

अखिल भारतीय सेवाएँ

- भारतीय प्रशासनिक सेवा (I.A.S.)
- भारतीय पुलिस सेवा (I.P.S.)
- भारतीय वन सेवा (I.F.S.)

केंद्रीय सेवाएँ

- भारतीय विदेश सेवा
- केंद्रीय विधिक सेवा
- केंद्रीय स्वास्थ्य सेवा
- केंद्रीय सूचना सेवा
- केंद्रीय अभियांत्रिकी सेवा
- भारतीय अर्थशास्त्र सेवा
- भारतीय डाक सेवा
- विदेश संचार सेवा
- भारतीय मौसम विज्ञान सेवा
- भारतीय सैन्य लेखा सेवा
- रेल कार्मिक सेवा
- भारतीय सांख्यिकी सेवा
- केंद्रीय सचिवालय सेवा
- भारतीय राजस्व सेवा (आय कर, सीमा कर व उत्पाद कर)
- भारतीय लेखा एवं परीक्षा सेवा

राज्य सेवाएँ

- सिविल सेवा
- पुलिस सेवा
- वन सेवा
- चिकित्सा सेवा
- मत्स्य सेवा
- शिक्षा सेवा
- जेल सेवा
- न्यायिक सेवा
- सहकारी सेवा
- बिक्री कर सेवा
- अभियांत्रिकी सेवा
- पशु चिकित्सा सेवा
- कृषि सेवा
- जन-स्वास्थ्य सेवा

20 संसदीय वित्तीय नियंत्रण एवं वित्तीय समितियाँ (Parliamentary Financial Control and Financial Committees)

हमारी सरकार की संसदीय प्रणाली वेस्टमिनिस्टर मॉडल पर आधारित है। इसलिये संविधान ने वित्त संबंधी शक्तियाँ लोगों के निर्वाचित प्रतिनिधियों को सौंपी हैं जिससे कि 'प्रतिनिधित्व के बिना कराधान नहीं' का सिद्धांत सही सिद्ध होता है। संसद और विधानमंडल की स्वीकृति के लिये बजट तैयार करना केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों का संवैधानिक दायित्व है।

कराधान पर विधायी विशेषाधिकार, व्यय पर विधायी नियंत्रण और वित्तीय मामलों पर कार्यपालिका द्वारा पहल आदि वित्तीय नियंत्रण के कुछ मूलभूत सिद्धांत हैं।

सार्वजनिक निधि का उपयोग (Use of Public Fund)

सरकार के पास जो भी धन होता है, उसे सार्वजनिक निधि कहते हैं। सार्वजनिक निधि के द्वारा ही सरकार अपने सभी प्रकार के व्यय एवं विभिन्न लोक-कल्याणकारी कार्य करती है। सरकार अपने उपक्रमों से जो धन प्राप्त करती है, वह भी सार्वजनिक निधि के अंतर्गत आता है। इस प्रकार वास्तव में सार्वजनिक निधि राष्ट्र की निधि है और सरकार का दायित्व है कि वह उसका सदुपयोग करे। भारतीय संविधान में सार्वजनिक निधि के संबंध में तीन प्रकार के खातों का उल्लेख है- संचित निधि, लोक लेखा, आकस्मिकता निधि।

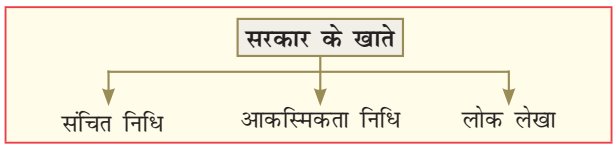

संचित निधि *(Consolidated Fund)*

संविधान के अनुच्छेद-266 में केंद्र एवं राज्यों के लिये एक संचित निधि का उपबंध किया गया है। यह एक ऐसी निधि है जिसमें से सभी प्राप्तियाँ उधार ली जाती हैं और भुगतान जमा किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में भारत सरकार द्वारा प्राप्त सभी राजस्व, राजकोषीय विधेयकों, अग्रिम अर्थोपायों तथा केंद्र सरकार द्वारा लिये गए सभी ऋण और ऋणों की पुनर्अदायगी में सरकार द्वारा प्राप्त धनराशि भारत की संचित निधि का भाग होगी। भारत सरकार की ओर से विहित प्राधिकृत सभी भुगतान इसी निधि में से किये जाते हैं। संचित निधि में से धन निकालने के लिये संसद विनियोग विधेयक पारित करती है।

लोक लेखा *(Public Account)*

संविधान के अनुच्छेद-266 में ही लोकलेखा का भी उल्लेख मिलता है। लोकलेखा में सरकार कभी-कभी ऐसा धन प्राप्त करती है जिस पर उसका स्वामित्व नहीं होता, जैसे- भविष्य निधि जमा, न्यायिक जमा, डाकघर बचत जमा आदि। कोई भी अधिकारी जिसने ऐसा धन संगृहीत किया है या जो उसके पास जमा किया गया है उसे वह अपनी अभिरक्षा में नहीं रखेगा। वह यथास्थिति, लोक लेखा में जमा किया जाएगा। दूसरे शब्दों में, जो धन संचित निधि में नहीं जाता है, वह लोक लेखा में जाएगा। लोक लेखा के धन पर सरकार का कोई अधिकार नहीं होता है। इस संबंध में सरकार केवल एक बैंकर की तरह कार्य करती है।

आकस्मिकता निधि *(Contingency Fund)*

संविधान के अनच्छेद 267 में आकस्मिकता निधि का उपबंध किया गया है। भारतीय संविधान संसद को आकस्मिकता निधि के गठन की अनुमति प्रदान करता है। आकस्मिकता निधि एक अग्रदाय निधि होती है जिसमें विधि द्वारा निर्धारित राशि संचित निधि में से अंतरित कर दी जाती है। जहाँ कोई ऐसा व्यय करने की आवश्यकता पड़ती है जिसके लिये संसद ने मंजूरी नहीं दी तो आकस्मिकता निधि में से धन निकाला जाता है। बाद में जब संसद स्वीकृति दे देती है तो आकस्मिकता निधि में से निकाली गई राशि की भरपाई कर दी जाती है। आकस्मिकता निधि को राष्ट्रपति की ओर से वित्त सचिव द्वारा रखा जाता है और इससे धन निकालने के लिये राष्ट्रपति की अनुमति लेनी पड़ती है।

लोक व्यय पर संसदीय नियंत्रण (Parliamentary Control on Public Expenditure)

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में चाहे वह संसदीय हो या अध्यक्षीय सार्वजनिक धन के दुरुपयोग को रोकने के लिये धन संबंधी मामलों में कार्यपालिका पर विधायिका का नियंत्रण आवश्यक है। प्रभावशाली नियंत्रण के अभाव में इस बात की पूरी संभावना है कि कार्यपालिका जनहित के स्थान पर स्वहित में धन का प्रयोग करने लगे। जनाकांक्षाओं, देशहित, विकास कार्यों को करने तथा देश की अर्थव्यवस्था को आगे बढ़ाने के लिये उस संस्था का व्यय पर नियंत्रण आवश्यक है जो आर्थिक नीतियों को तय करती है। जनप्रतिनिधि संस्था होने के कारण संसद का यह कर्त्तव्य है कि वह यह सुनिश्चित करे कि जनता का धन सही प्रकार से और सही कार्यों पर खर्च हो। कार्यपालिका जनता के लिये कल्याणकारी कार्यक्रम आदि चला सकती है, इसे संतुलित करने के लिये वित्त पर नियंत्रण आवश्यक है। मतदाताओं को लुभाने के लिये सरकार प्रमुख कार्यक्रमों की बजाय लोक लुभावने कार्यक्रमों को वरीयता दे सकती है जो राष्ट्रहित और जनहित की दृष्टि से अनुपयुक्त हैं। ऐसी स्थिति में संसद ही कार्यपालिका को ऐसा करने से रोककर सही मार्ग दिखा सकती है। इसलिये लोक व्यय पर संसदीय नियंत्रण आवश्यक है। लोक व्यय पर संसदीय नियंत्रण के अनेक माध्यम हैं, जैसे- संसद का प्रत्यक्ष नियंत्रण, नियंत्रक एवं महालेखापरीक्षक के माध्यम से वित्तीय नियंत्रण और विभिन्न संसदीय समितियों के माध्यम से नियंत्रण।

21 लोक नीति एवं अधिकार
(Public Policy and Authority)

लोक नीति में लोक से तात्पर्य सरकार से है तथा सरकार द्वारा निर्मित नीतियों को लोक नीति कहा जाता है। लोक नीति एक जटिल प्रक्रियात्मक प्रक्रिया है जो विभिन्न पारिस्थितिकीय प्रवृत्तियों, जैसे– सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक कारणों से प्रभावित होती है। साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि जनता की विविध मांगों की पूर्ति के लिये सरकार द्वारा जिन नीतियों का निर्माण किया जाता है, उन्हें लोक नीति कहते हैं।

लोक नीति (Public Policy)

किसी भी लोकतांत्रिक देश में शासनतंत्र अपनी इच्छाओं को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिये लोक नीतियों को अपनाता है अर्थात् लोक नीति सरकार के दृष्टिकोण को प्रतिबिंबित करती है। किसी भी प्रकार की शासन व्यवस्था उसकी लोक नीति के स्वरूप व उसकी सफलता से जानी जाती है।

शासन की प्रधान प्रक्रियाओं में से एक नीति-निर्माण की प्रक्रिया को लोक प्रशासन का सार कहा जाता है। लोक शब्द जहाँ सामाजिकता तथा सार्वजनिकता को दर्शाता है वहीं नीति से तात्पर्य यह निर्णय करना होता है कि क्या किया जाए, कब किया जाए, कहाँ किया जाए तथा कैसे किया जाए।

लोक नीति के प्रकार *(Types of Public Policy)*

लोक नीति को लोक प्रशासन के अंतर्गत समग्र रूप से लोक नीति प्रक्रिया कहा जाता है। इसमें नीति-निर्माण एवं नीति क्रियान्वयन को सम्मिलित किया जाता है। भारतीय लोक प्रशासन में लोक नीति को प्रायः दो आधारों पर वर्गीकृत किया जाता है–

विषयवस्तु के आधार पर *(On the Basis of Subject Matter)*

लोक नीति में विषयवस्तु के आधार पर नीतियाँ सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सुरक्षा संबंधी हो सकती हैं। उदाहरणस्वरूप सामाजिक क्षेत्र में जनसंख्या नीति, महिला कल्याण एवं सशक्तीकरण नीति एवं शिक्षा नीति आदि महत्त्वपूर्ण हैं। आर्थिक क्षेत्र में मौद्रिक नीति तथा राजनीतिक क्षेत्र में प्रतिरक्षा नीति, आंतरिक सुरक्षा नीति व विदेश नीति महत्त्व रखती हैं।

तकनीकी उद्देश्यों के आधार पर *(On the Basis of Technical Objectives)*

लोक नीति के तकनीकी उद्देश्यों के आधार पर निम्नलिखित प्रकार हैं–

निर्माणकारी नीतियाँ: ऐसी नीतियाँ जिनके तहत किसी क्षेत्र विशेष में विशिष्ट उद्देश्यों से नई संस्थाओं का गठन किया जाता है या पुरानी संस्थाओं का पुनर्गठन किया जाता है, निर्माणकारी नीतियाँ कहलाती हैं। उदाहरणस्वरूप राष्ट्रीय एवं राज्य महिला आयोग, राष्ट्रीय एवं राज्य मानवाधिकार आयोग आदि।

सारगत या तात्त्विक नीतियाँ: ऐसी नीतियाँ जिनका संबंध किसी वर्ग विशेष से न होकर पूरे समाज के विकास एवं कल्याण से हो सारगत या तात्त्विक नीतियाँ कहलाती हैं। संविधान एवं समाज की आवश्यकता इस नीति के उद्भव का कारण होती है। उदाहरणस्वरूप प्रदूषण नियंत्रण कानून, कानून और व्यवस्था बनाए रखना, शिक्षा एवं रोज़गार का प्रबंधन आदि।

वितरक नीतियाँ: समाज के विशिष्ट वर्गों के लिये इन नीतियों का निर्माण किया जाता है। ऐसी नीतियों का संबंध मुख्य रूप से लोक कल्याण व स्वास्थ्य क्षेत्र से होता है। इनमें लोक कल्याण एवं उससे संबंधित सहायता कार्यक्रमों को सम्मिलित किया जाता है। उदाहरणस्वरूप– बालवाड़ी पोषाहार कार्यक्रम, इंदिरा महिला योजना-समेकित बाल विकास कार्यक्रम आदि।

पुनःवितरक नीतियाँ: मूल रूप से सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाने के उद्देश्य से नीतियों की पुनः व्यवस्था करना पुनःवितरक नीतियाँ कहलाती हैं। कुछ कल्याणकारी सेवाओं का वितरण समाज के विशिष्ट वर्गों से अलग होता है इसलिये पुनःवितरक नीतियों के माध्यम से ऐसी सेवाओं को सीमित किया जाता है।

नियंत्रक नीतियाँ: जनोपयोगी सेवा, सुरक्षा उपाय, व्यापार एवं व्यवसाय से संबंधित नीतियों को नियंत्रक नीतियों के अंतर्गत सम्मिलित किया जाता है। सरकार की तरफ से कार्य करने वाली स्वायत्तशासी संस्थाएँ इस प्रकार के नियंत्रण का कार्य करती हैं। उदाहरणस्वरूप निर्वाचन आयोग, भारतीय रिज़र्व बैंक, सेबी आदि।

लोक नीति निर्माण की विशेषताएँ *(Characteristics of Making of Public Policy)*

लोक नीति निर्माण में सरकार के विभिन्न स्तर सम्मिलित होते हैं। अतः लोक नीति इस पर निर्भर करेगी कि सरकार का उद्देश्य क्या है तथा इसी आधार पर लोक नीति की विशेषताओं को पहचाना जा सकता है। लोक नीति की विशेषताओं को निम्नलिखित बिंदुओं द्वारा समझ सकते हैं।

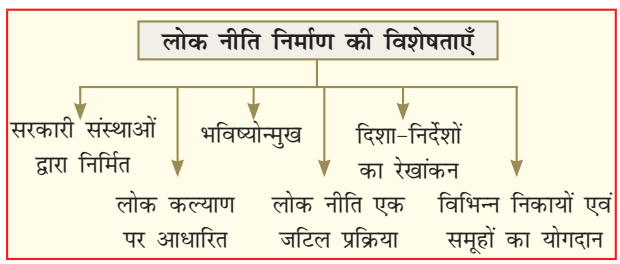

22 राजस्थान की राज्य राजनीति
(State Politics of Rajasthan)

राजस्थान भारत का सबसे बड़ा राज्य है जिसका क्षेत्रफल 3,42,239 वर्ग किमी. है तथा जनसंख्या 6.86 करोड़ (2011 के अनुसार) है। राजस्थान में राजनीतिक चेतना का विकास प्रारंभ से ही कई आंदोलनों के माध्यम से शुरू हुआ। राजस्थान के राजाओं ने भी कई प्रतिनिधि संस्थाएँ बनाने की कोशिश की थी, लेकिन उनमें जनप्रतिनिधित्व का अपेक्षित गुण न होने के कारण वे सफल नहीं हो पाए। आज़ादी के बाद राजस्थान का एकीकरण संपन्न हुआ और 1952 में राज्य विधानसभा का निर्माण हुआ। 1977 से पहले तक कांग्रेस का वर्चस्व राजस्थान विधानसभा पर बना रहा, लेकिन वर्ष 1977 के चुनाव में प्रथम बार गैर-कांग्रेसी दलों की सरकार बनी। राजस्थान की राज्य राजनीति में प्रारंभ से ही दो दलों के मध्य राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा रही है। वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में भी भाजपा एवं कॉन्ग्रेस के मध्य ही राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा बनी हुई है और मुख्य रूप से राजस्थान की राजनीति इन्हीं दो राष्ट्रीय दलों के इर्द-गिर्द घूमती रहती है।

दलीय प्रणाली एवं राजनीतिक जनांकिकी (Party System and Political Demography)

दलीय प्रणाली *(Party System)*

भारत में चीन की भाँति एकदलीय प्रणाली नहीं है और न ही इंग्लैंड तथा अमेरिका की तरह द्विदलीय प्रणाली है बल्कि यहाँ बहुदलीय प्रणाली है। जहाँ अनेक दलों की प्रधानता होती है और ये दल भिन्न-भिन्न राजनीतिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

यद्यपि भारत के लोकतंत्र में राज्यस्तरीय दल की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। राज्यस्तरीय दलों का विभिन्न स्वरूप होता है। कुछ दल जाति, क्षेत्र, धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं, कुछ दल किसी समस्या विशेष को लेकर तथा कुछ राष्ट्रीय स्तर के दल के रूप में अपने आपको स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

राजस्थान में 2019 का लोकसभा चुनाव 25 सीटों पर लड़ा गया जिसमें भारतीय जनता पार्टी को 24 सीटें तथा राष्ट्रीय लोकतांत्रिक पार्टी को एक सीट प्राप्त हुई।

मत के प्रतिशत के रूप में दलीय स्थिति	
भारतीय जनता पार्टी (BJP)	58.47%
इंडियन नेशनल कांग्रेस (INC)	34.24%
राष्ट्रीय लोकतांत्रिक पार्टी	2.04%
निर्वाचित सदस्य	
पुरुष	22
महिला	3
कुल	25

दल के रूप में निर्वाचित प्रतिनिधि	
भारतीय जनता पार्टी (BJP)	24
इंडियन नेशनल कांग्रेस (INC)	0
राष्ट्रीय लोकतांत्रिक पार्टी	1
अन्य दल	0
स्वतंत्र	0
कुल	**25**

राजस्थान विधानसभा चुनाव 2018 में 6 राष्ट्रीय दल, 7 राज्यस्तरीय दल एवं शेष अन्य पंजीकृत दलों ने भाग लिया, जिनका विवरण नीचे दी गई सारणी में दिया गया है-

राजनीतिक पार्टियाँ/दल			
पार्टी/दल			
राष्ट्रीय पार्टियाँ			
1.	भारतीय जनता पार्टी (बीजेपी)	4.	कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सवादी)
2.	बहुजन समाज पार्टी (बीएसपी)	5.	इंडियन नेशनल कांग्रेस
3.	कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया	6.	राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी
राज्यस्तरीय पार्टियाँ			
7.	आम आदमी पार्टी	11.	राष्ट्रीय लोकदल
8.	जनता दल (सेक्युलर)	12.	शिवसेना
9.	जनता दल (यूनाइटेड)	13.	समाजवादी पार्टी
10.	लोक जनशक्ति पार्टी		
पंजीकृत (अमान्यता प्राप्त) पार्टियाँ			
14.	अखिल भारतीय हिंदू महासभा	40.	असंख्य समाज पार्टी
15.	आल इंडिया हिंदुस्तान कांग्रेस पार्टी	41.	आरक्षण विरोधी पार्टी
16.	अखिल भारतीय आमजन पार्टी	42.	बहुजन संघर्ष दल
17.	अनारक्षित समाज पार्टी	43.	भारतीय बहुजन पार्टी
18.	अखंड समता पार्टी	44.	भारतीय पार्टी
19.	अंजुमन पार्टी	45.	भारतीय जन हितकारी पार्टी

23 राजनीतिक गत्यात्मकताएँ
(Political Dynamics)

राजनीतिक गत्यात्मकता से तात्पर्य ऐसे कारकों से है जो राजनीति को गतिशीलता प्रदान करते हैं। भारतीय राजनीति विभिन्न कारकों, जैसे- जाति, धर्म, लिंग, भाषा आदि से प्रभावित होती है और यह राजनीति को गतिशीलता भी प्रदान करती है, परंतु भारत की इस विविधता का जब राजनीतिक दलों द्वारा राजनीतिकरण कर दिया जाता है तो यह सुचारु राजनीति में बाधा भी उत्पन्न करती है। इस प्रकार राजनीतिक गत्यात्मकता के इस अध्याय के अंतर्गत हम भारतीय राजनीति को प्रभावित करने वाले कारक, नागरिक समाज, राष्ट्रीय अखंडता एवं सुरक्षा से जुड़े मुद्दे तथा सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष के संभावित क्षेत्रों का अध्ययन करेंगे।

भारतीय राजनीति में धर्म, जाति, वर्ग, नृजातीयता, भाषा एवं लिंग की भूमिका (Role of Religion, Caste, Class, Ethnicity, Language and Gender in Indian Politics)

भारतीय समाज एक परंपरावादी एवं विविधतापूर्ण समाज रहा है। इस परंपरावादी एवं विविधतापूर्ण समाज में आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना भारतीय राजनीति की एक अद्भुत विशेषता है। भारत में आधुनिक राजनीति स्थापित होने के बाद इस अवधारणा का विकास हुआ कि पश्चिमी शैली की राजनीति और लोकतांत्रिक मूल्यों को अपनाने के बाद भारत की पारंपरिक राजनीतिक संस्थाओं में जाति, धर्म, भाषा एवं लिंग आधारित विविधता का अंत हो जाएगा, किंतु स्वतंत्रता के बाद भारत की राजनीति में धर्म, जाति, भाषा एवं लिंग का प्रभाव अनवरत रूप से बढ़ता गया। जहाँ सामाजिक क्षेत्र में इनका प्रभाव कम हुआ है, वहीं बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों, केंद्र एवं राज्य सरकारों ने राजनीति में इनकी भूमिका स्वीकार की है।

भारतीय राजनीति में धर्म *(Religion in Indian Politics)*

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्त्वों में 'धर्म और सांप्रदायिकता' को अत्यंत प्रभावशाली माना गया है। जहाँ एक ओर धर्म का प्रयोग तनाव उत्पन्न करने के लिये किया जाता है, वहीं दूसरी ओर धर्म को प्रभाव और शक्ति अर्जित करने का एक माध्यम भी मान लिया जाता है। धर्म के नाम से राजनीतिक दलों का गठन, चुनावों में समर्थन एवं मत प्राप्त करने के लिये धर्म का सहारा लेना, धर्म के नाम पर जनता से अपील करना, आश्वासन देना, निर्वाचनों में धर्म के आधार पर प्रत्याशियों का चयन करना तथा मतदान व्यवहार में धर्म का राजनीतिक स्वरूप देखने को मिलता है। वहीं यह भी सत्य है कि भारतीय संविधान ने पंथनिरपेक्ष सिद्धांत को अपनाया है। भारतीय राजनीति में धर्म की निम्नलिखित भूमिका देखी जाती है–

राजनीतिक दलों में धर्म की भूमिका: स्वतंत्रता के पूर्व ही भारत में धर्म के आधार पर राजनीतिक दलों का गठन होने लगा था, जैसे– मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा आदि। धर्म के नाम पर भारत का विभाजन होने के बावजूद ये राजनीतिक दल न केवल अस्तित्व में रहे बल्कि सांप्रदायिकता को भी बढ़ावा देते रहे हैं। ये सांप्रदायिक दल धर्म को राजनीति में प्रधानता देते हैं। धर्म के आधार पर प्रत्याशियों का चुनाव करते हैं और संप्रदाय के नाम पर वोट मांगते हैं। चुनाव के समय गोवध पर रोक लगाना, मंदिर-मस्जिद के निर्माण का मुद्दा आदि उठाकर ये दल चुनावी गतिविधियों को दुष्प्रभावित करते हैं। वर्तमान में भारत की लगभग सभी राष्ट्रीय एवं राज्य स्तरीय राजनीतिक दलों में यह प्रवृत्ति देखी जाती है। वे न केवल धर्म को चुनाव का आधार बनाते हैं बल्कि उसके नाम पर वोट की राजनीति करते हैं। कई दलों पर तुष्टिकरण की राजनीति का आरोप लगता रहा है। चुनावों के समय सांप्रदायिक मुद्दे को बल देकर वोटों का ध्रुवीकरण भी कई राजनीतिक दल करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दलों द्वारा धर्म का प्रयोग वोट की राजनीति के लिये होता रहा है।

धार्मिक दबाव गुट की राजनीति में भूमिका: धार्मिक संगठन भारतीय राजनीति में सशक्त दबाव समूह की भूमिका अदा करते हैं। ये समूह न केवल शासन की नीतियों को प्रभावित करते हैं बल्कि अपने पक्ष में अनुकूल निर्णय भी करवाते हैं। भारत में कई मुस्लिम संगठनों के विरोध के कारण एक समान सिविल संहिता का निर्माण नहीं हो सका है। मुस्लिम पर्सनल लॉ में कोई तब्दीली नहीं की गई है। बजरंग दल और विश्व हिंदू परिषद जैसे धार्मिक संगठन भी कई बार दबाव गुट की भूमिका में राजनीति को प्रभावित करते रहे हैं। पंजाब में अकाली दल का गठन भी धार्मिक कारणों से हुआ।

पृथक् राज्यों की मांग में धर्म की भूमिका: अनेक बार अप्रत्यक्ष रूप से पंथ के आधार पर पृथक् राज्य की मांग भी की जाती है। पंजाब में अकाली दल द्वारा अलग राज्य की मांग ऊपरी स्तर पर तो भाषायी नज़र आती है, परंतु यथार्थ रूप से यह धर्म के आधार पर पृथक् राज्य की मांग थी। नवंबर 1949 में मास्टर तारासिंह ने पूर्वी पंजाब में एक 'सिक्ख प्रांत' की मांग करते हुए कहा, 'पूर्वी पंजाब के हिंदू संकीर्ण हृदय वाले संप्रदायी हो गए और सिक्खों को उनसे उचित व्यवहार की आशा नहीं रह गई है, पुराने पंजाब राज्य के विभाजन का आधार धर्म ही रहा है। आगे कुछ ऐसा ही नगालैंड के ईसाई समुदाय ने भी पृथक् राज्य की मांग का आधार तैयार किया है।

मंत्रिमंडल के निर्माण में धर्म की भूमिका: केंद्र एवं राज्यों के मंत्रिमंडल के निर्माण में भी हमेशा इस बात को ध्यान में रखा जाता है कि प्रमुख धार्मिक संप्रदायों के लोगों को उनमें प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। केंद्रीय मंत्रिमंडल के निर्माण में मुस्लिम, सिक्ख और ईसाइयों को सदैव प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

राज्यों की राजनीति में धर्म की भूमिका: धर्म और विभिन्न सांप्रदायिक समुदायों की भारतीय राज्यों की राजनीति में काफी भूमिका देखी जा सकती है। उदाहरण के लिये केरल की राजनीति का ऊपरी

24 संवैधानिक, सांविधिक, गैर-सांविधिक और विभिन्न अर्द्ध-न्यायिक निकाय
(Constitutional, Statutory, Non- Statutory and Various Quasi-Judicial Bodies)

भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था में विभिन्न संवैधानिक, सांविधिक, गैर-सांविधिक, विनियामक एवं अर्द्ध-न्यायिक निकायों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये निकाय संवैधानिक व्यवस्था के तहत विधि द्वारा संचालित होते हैं। एक लोक-कल्याणकारी राज्य में ये संवैधानिक एवं अन्य प्राधिकरण रोक एवं संतुलन (चेक एंड बैलेंस) के सिद्धांत पर कार्य करते हैं। इन निकायों को संविधान एवं विधि द्वारा पर्याप्त शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। इनके मध्य कार्यों का विभाजन भी तर्कसंगत एवं उचित ढंग से किया गया है और ये संस्थाएँ लोकतंत्र के महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं।

भारत का नियंत्रक-महालेखापरीक्षक (Comptroller and Auditor-General of India)

नियंत्रक-महालेखापरीक्षक का पद भारतीय वित्त प्रशासन में सर्वाधिक महत्त्व वाले पदों में से है। वह देश की संपूर्ण वित्तीय व्यवस्था (संघ और राज्य दोनों) को नियंत्रित करता है। उसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए डॉ. अंबेडकर ने कहा था- "नियंत्रक-महालेखापरीक्षक भारतीय संविधान के अधीन सर्वाधिक महत्त्व का अधिकारी होगा। वह सार्वजनिक धन का संरक्षक होगा और इस रूप में उसका यह कर्त्तव्य होगा कि वह यह देखे कि समुचित विधानमंडल के प्राधिकार के बिना भारत या किसी राज्य की संचित निधि से एक पैसा भी खर्च न किया जाए।"

नियुक्ति एवं सेवा-शर्तें *(Appointment and Conditions of Service)*

नियंत्रक-महालेखापरीक्षक की नियुक्ति एवं पदमुक्ति के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 148(1) में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि-

"भारत का एक नियंत्रक-महालेखापरीक्षक होगा जिसको राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त करेगा और उसे उसके पद से केवल उसी रीति से एवं उन्हीं आधारों पर हटाया जाएगा जिस रीति से तथा जिन आधारों पर उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को हटाया जाता है।"

उपरोक्त प्रावधान से दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम यह कि महान्यायवादी तथा अन्य सिविल सेवकों की भाँति नियंत्रक-महालेखापरीक्षक की नियुक्ति भी राष्ट्रपति के द्वारा ही की जाएगी, दूसरी यह कि वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत पद पर नहीं रहेगा बल्कि इस मामले में उसकी प्रस्थिति भारत राज्य के अन्य सिविल सेवकों से श्रेष्ठतर होगी और उसे पद से हटाने के लिये उसी रीति तथा उन्हीं आधारों का अनुसरण किया जाएगा, जिनका उल्लेख संविधान में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की पदच्युति के संदर्भ में किया गया है।

नियंत्रक-महालेखापरीक्षक की नियुक्ति एवं सेवा-शर्तों से संबंधित अन्य प्रावधान इस प्रकार हैं-

- पद ग्रहण करने से पूर्व उक्त व्यक्ति, जिसकी नियुक्ति नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के पद पर की गई है, राष्ट्रपति के समक्ष या उसके द्वारा इस कार्य के लिये नियुक्त किये गए व्यक्ति के समक्ष संविधान की तीसरी अनुसूची में उसके पद की शपथ के प्रारूप के अनुसार शपथ लेगा और शपथ-पत्र पर हस्ताक्षर करेगा [अनुच्छेद 148(2)]।
- उसका वेतन तथा अन्य सेवा-शर्तें ऐसी होंगी जो संसद विधि बनाकर सुनिश्चित करेगी और जब तक संसद इस संबंध में कोई विधि नहीं बनाती है तब तक ऐसी होंगी जिनका उल्लेख दूसरी अनुसूची में किया गया है। साथ ही यह भी कि उसकी नियुक्ति के पश्चात् पदावधि के दौरान उसके वेतन और सेवा-शर्तों में कोई भी अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएगा [अनुच्छेद 148(3)]। इसी उपबंध द्वारा दी गई शक्ति के अधीन संसद द्वारा नियंत्रक-महालेखापरीक्षक (सेवा की शर्तें) अधिनियम, 1971 पारित किया गया। पुनः 1976 में संशोधित इस अधिनियम में नियंत्रक-महालेखापरीक्षक से संबंधित निम्नलिखित प्रावधान उपबंधित हैं-
  - उसकी पदावधि 6 वर्ष या 65 वर्ष की आयु, जो भी पहले हो, तक होगी।
  - वह कभी भी राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख के माध्यम से पद त्याग सकता है।
  - उसका वेतन उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के समान होगा।
  - अन्य विषयों के संबंध में उसकी सेवा-शर्तें इन्हीं नियमों से निर्धारित होंगी जो भारत सरकार के सचिव की श्रेणी के भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्यों के संबंध में लागू होती हैं।
- सेवा-निवृत्ति अथवा पद पर न रह जाने के पश्चात् वह भारत सरकार या किसी भी राज्य सरकार के अधीन किसी और पद को धारण करने का पात्र नहीं होगा [अनुच्छेद 148(4)]।
- संविधान तथा संसद द्वारा बनाई गई विधि में वर्णित उपबंधों के अधीन रहते हुए, भारतीय लेखापरीक्षा और लेखा विभाग के कर्मचारियों की सेवा-शर्तें और नियंत्रक-महालेखापरीक्षक की प्रशासनिक शक्तियाँ ऐसी होंगी जो नियंत्रक-महालेखापरीक्षक से परामर्श करने के बाद राष्ट्रपति के द्वारा बनाए गए नियमों द्वारा विहित की जाएंगी [अनुच्छेद 148(5)]।
- नियंत्रक-महालेखापरीक्षक तथा उसके कर्मचारियों के वेतन, भत्ते और पेंशन तथा प्रशासनिक व्यय भारत की संचित निधि पर भारित होंगे और उन पर मतदान नहीं किया जाएगा [अनुच्छेद 148(6)]।

25 अंतर्राष्ट्रीय संबंध एवं कुछ महत्त्वपूर्ण संकल्पनाएँ
(International Relations & Some Important Concepts)

'राष्ट्र' शब्द जिसका प्रयोग बहुधा 'राज्य' के स्थान पर भी कर लिया जाता है, एक ऐसा शब्द है जिसके सांस्कृतिक निहितार्थ हैं। इसका संबंध जनता के उस समूह से होता है जो एकात्मकता एवं आपसी मूल्यों की भावना से संगठित होते हैं। इसे राजनीति विशेषज्ञ 'कल्पित समुदाय' (Imaginary Community) की संज्ञा देते हैं। यह समूह कुछ सांस्कृतिक कारकों पर आधारित होता है, जैसे-समान इतिहास, समान भाषा, समान धर्म, समान सजातीयता एवं समान प्रथाएँ आदि। 'राज्य' शब्द का संबंध राजनीतिक विचार और कानूनी सत्ता दोनों से होता है। तथापि, संयुक्त रूप से 'राष्ट्र-राज्य' शब्द का संबंध 'राष्ट्र' के रूप में एक ऐसी सांस्कृतिक इकाई से होता है, जिसकी सीमाएँ 'राज्य' की राजनीतिक-कानूनी सीमाओं के समान होती हैं। निकोलो मैकियावेली (Niccolo Machiavelli) संभवत: ऐसे पहले राजनीतिक विचारक थे, जिन्होंने अपनी कृति 'द प्रिंस' (The Prince) में आधुनिक राज्य के राजनीतिक सार का वर्णन किया था। अंतर्राष्ट्रीय कानून के अंतर्गत आधुनिक राज्य निम्नलिखित चार लक्षणों पर आधारित होता है: स्थायी जनसंख्या (Permanent Population); निश्चित प्रदेश (Certain Territory); संगठित सरकार (Organized Government) तथा प्रभुसत्ता (Sovereignty)।

अंतर्राष्ट्रीय संबंध (International Relation)

अंतर्राष्ट्रीय संबंध से तात्पर्य दो या अधिक राष्ट्रों के मध्य संबंधों के स्वरूप से है, जिसमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं सामरिक संबंध स्थापित होते हैं। दो या दो से अधिक राष्ट्रों के मध्य संबंधों का निर्धारण अनेक पहलुओं के द्वारा निर्धारित होता है, जिसमें शामिल हैं- राष्ट्र की शासन व्यवस्था, भौगोलिक अवस्थिति, संसाधनों की उपलब्धता, सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक विकासक्रम, विचारधारा एवं ऐतिहासिक मूल्य इत्यादि। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को अंतर्राष्ट्रीय संगठन, वैश्विक व्यापार प्रतिरूप एवं नेतृत्व क्षमता भी प्रभावित करती है। राष्ट्र की सुरक्षा एवं संपन्नता को सुनिश्चित करने के लिये न सिर्फ पड़ोसी देशों के साथ बल्कि अन्य राष्ट्रों के साथ भी सकारात्मक एवं सौहार्द्रपूर्ण संबंध सहायक सिद्ध होते हैं।

चूँकि मध्य युग तक राष्ट्र-राज्यों का अस्तित्व ही नहीं था, तकनीकी दृष्टि से उस समय से पूर्व अंतर्राष्ट्रीय संबंध भी संभव नहीं थे। तथापि, इस बात के स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है कि प्राचीन काल में अंतर्राष्ट्रीय मामलों को उजागर करने वाली राजनीतिक गतिविधियाँ प्रत्यक्ष थीं। हालाँकि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में राष्ट्र-राज्य व्यवस्था की अवधारणा के उदय के संकेत 1648 की वेस्टफेलिया की संधि (Westphalia Treaty) से मिलते हैं, जिसने यूरोप में तीस वर्षों (1618-1648) के युद्ध को समाप्त कर दिया। यह संधि राज्य व राज्य-व्यवस्था को कानूनी मान्यता देती थी। वास्तव में इसके द्वारा दो राज्यों-स्विट्ज़रलैंड और नीदरलैंड का निर्माण हुआ। इसके बाद यूरोपीय शासकों ने रोमन कैथोलिक चर्च की सत्ता को अस्वीकार कर दिया।

कालांतर में राष्ट्र-राज्य की अवधारणा ने न केवल विभिन्न अर्थ एवं रूप ग्रहण किये हैं बल्कि इसकी सत्ता ने नवीन उपलब्धियों का भी सामना किया है। हाल के वर्षों में व्यापार, उत्पादन और वित्त का वैश्वीकरण, संचार एवं परिवहन के क्षेत्र में क्रांति, तकनीक एवं शस्त्रों के विस्तार तथा पर्यावरणीय एवं सतत् सामरिक संकट ने ऐसी समस्याएँ खड़ी की हैं, जिनका समाधान राष्ट्र-राज्यों की संरचना के अंतर्गत नहीं किया जा सकता। यह अधिराष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक संस्थाओं की खोज एवं विस्तार को अनिवार्य बनाता है जो कि राष्ट्रीय संप्रभुता (National Sovereignty) के परंपरागत मूल्य को दुर्बल बना सकता है। त्वरित वैश्वीकरण (Globalization) के सांस्कृतिक प्रभाव अपने साथ उन विघटनकारी तत्त्वों को भी ला रहे हैं, जो समाज को अधोपतन की ओर प्रवृत्त करते हैं और जो पुरानी सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इकाइयों को विखंडित कर सकते हैं। अधोगमन की यह प्रवृत्ति पश्चिम के आर्थिक रूप से उन्नतिशील राष्ट्र-राज्यों में अधिक दिखाई देती है तथा इसका उद्देश्य राष्ट्र-राज्यों की एक संस्था के रूप में उनकी सत्ता के साथ-साथ उनके महत्त्व एवं औचित्य को भी कम करना प्रतीत होता है।

निकट भविष्य में हम शक्ति के केंद्र के रूप में राष्ट्र-राज्यों का आगामी ह्रास देख सकते हैं। इस प्रवृत्ति के लिये उत्तरदायी एक कारक है- गैर-राज्य संगठनों का उत्थान। महत्त्वपूर्ण रूप से, गैर-राज्य संगठन (Non-State Organizations) राज्य के उपरोक्त चार लक्षणों का समर्थन नहीं करते। जहाँ कुछ संगठनों का स्थान राज्यों से ऊपर है, जैसे कि यूरोपीय संघ (European Union) एवं अन्य प्रादेशिक संगठन, वहाँ कुछ संगठन बिल्कुल भिन्न प्रकार के हैं, उदाहरणार्थ- अंतर्राष्ट्रीय निकाय (International Bodies) एवं बहुराष्ट्रीय कॉर्पोरेट निकाय (Multinational Corporate Bodies)। उनमें एक सामान्य बात यह है कि वे सभी या तो राष्ट्र-राज्य की कुछ भूमिकाओं को स्वीकार करते हैं अथवा उसके नियंत्रण से बचने का प्रयास करते हैं। आकार में राज्यों से बड़ा होने के कारण अथवा भौगोलिक सीमाओं के अभाव के कारण वे परिवहन एवं संचार के वर्तमान विकास से अधिक लाभ उठा सकने की स्थिति में हैं। परिणामस्वरूप, उनकी शक्ति में वृद्धि हो रही है, जबकि राष्ट्र-राज्यों का ह्रास हो रहा है।

राष्ट्रों के मध्य संबंधों पर द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रभाव *(Consequences of second world war on relations amongst nations)*

यूरोप एवं एशिया में जीवन, गृह, उद्योग एवं संचार की आधारभूत संरचना पर द्वितीय विश्वयुद्ध का भीषण प्रभाव पड़ा। सबसे गंभीर बात तो यह थी कि इसमें लगभग 60 लाख यहूदियों (Jews) का नृजातीय

26 शीत युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था (World Order After Cold War)

शीतयुद्ध के अंत का आकस्मिक परिणाम था कि अब संयुक्त राज्य अमेरिका अंतर्राष्ट्रीय संरचना के शिखर पर अकेला खड़ा था। अब सोवियत संघ कहीं से भी वर्चस्व में उसके आड़े नहीं था। शीतयुद्ध की समाप्ति ने अमेरिका और सोवियत संघ को उस प्रतिद्वंद्विता से मुक्त कर दिया था जिसने उनके अपार संसाधनों को निचोड़ लिया था और अन्य शक्तियों जैसे कि चीन, जर्मनी और जापान की तुलना में उनकी आर्थिक शक्ति को भी काफी कमज़ोर कर दिया था।

शीतयुद्ध (Cold War)

सोवियत-अमेरिकी संबंधों में 'शीतयुद्ध' (Cold War) शब्द का प्रयोग तत्कालीन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विकसित गहन विद्वेष और तनाव को संबोधित करने के लिये किया जाता है। प्रत्यक्ष रूप से आमने-सामने बिना किसी युद्ध के शीतयुद्ध एक वैचारिक संघर्ष, राजनीतिक अविश्वास, कूटनीतिक चालों, सैन्य प्रतियोगिता, गुप्तचर गतिविधियों और मनोवैज्ञानिक संघर्ष की प्रक्रिया थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत के साथ ही यह स्पष्ट हो गया था कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के एक नए युग का प्रारंभ हो रहा था। अपने क्षेत्र में अद्वितीय एवं विनाशकारिता में अपूर्व होने के कारण बीसवीं शताब्दी के द्वितीय महायुद्ध ने न केवल एक ऐसी व्यवस्था का सूत्रपात किया जिसमें दो महाशक्तियों संयुक्त राज्य अमेरिका एवं सोवियत संघ का आधिपत्य था बल्कि इसने पूर्व शताब्दियों में साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा संकलित विशाल औपनिवेशिक साम्राज्यों के विघटन को भी तीव्र बना दिया और इस प्रकार अनेक लोगों को विदेशी शासन से मुक्ति मिली। उभरती हुई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की प्रमुख विशेषता थी- यूरोपीय कोर क्षेत्र (European Core Area) के बाहर ऐसे अनेक प्रभुत्वसंपन्न राज्यों में शक्ति का वितरण जो उक्त दो महाशक्तियों द्वारा नियंत्रित थे।

इस महाशक्ति प्रतिद्वंद्विता के लिये द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत जन्मे कुछ महत्त्वपूर्ण कारक उत्तरदायी थे। दो महाशक्तियों के बीच हितों का टकराव विवाद का एक प्रमुख कारण था। अंतर्राष्ट्रीय क्रम-व्यवस्था में शिखर पर अमेरिका और सोवियत संघ की सुदृढ़ स्थिति एक-दूसरे के लिये शंका का कारण थी। दूसरे, वैचारिक मतभेद ने न केवल दो शक्तिशाली राष्ट्रों बल्कि दो भिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं के मध्य भी शीतयुद्ध को एक संघर्ष बना दिया। तीसरे, दोनों महाशक्तियों की एक-दूसरे के उद्देश्यों के प्रति गलतफहमी भी एक कारण थी। शंकालु व्यक्ति अपने कार्यों को सद्भावना से और प्रतिपक्षी के कार्यों को दुर्भावना की दृष्टि से देखते हैं। यह प्रवृत्ति शस्त्रों की होड़ से स्पष्ट होती है। गलतफहमी का शिकार होकर यह अनुमान लगा लिया गया कि शत्रु आक्रामक युद्ध की तैयारी कर रहा है। अत: शीतयुद्ध के विकास-काल में अमेरिका के नेताओं एवं उसके मित्रों ने उत्पन्न संकटों को विश्व-आधिपत्य की सोवियत योजना का भाग माना। दूसरी ओर, सोवियत संघ ने इसे भिन्न नज़रिये से देखा। उसने अपनी सामाजिक व्यवस्था के नाश के लिये पश्चिम को उत्तदायी माना। अविश्वास ने गलतफहमियों को जन्म दिया जो संघर्ष में बदल गया। विभिन्न हितों के साथ-साथ विचारधाराओं और धारणाओं का अंतर भी एक अन्य कारक था। इन महाशक्तियों की प्रतिद्वंद्विता की गति को पूर्णत: समझने के लिये इसके कारकों को जानना एवं इसकी घटनाओं की जाँच करना महत्त्वपूर्ण है जिसका हम आगे सविस्तार वर्णन करेंगे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरंत बाद सोवियत-अमेरिकी मित्रता पारस्परिक शत्रुता में बदल गई। वर्ष 1950 में कोरियाई युद्ध और तिब्बत में चीनी हमले के साथ ही दो शक्तियों का आमना-सामना स्पष्ट है। यह सार्वभौमिक रूप से एक कटु संघर्ष बन गया जिससे एक मुक्त विवाद (Open Dispute) के बढ़ने का भय हो गया। दूसरी ओर, महाशक्तियों के संबंधों ने तब एक नया मोड़ लिया जब 1949 में सोवियत संघ ने संयुक्त राज्य के परमाणु शक्ति (Atomic Power) संबंधी एकाधिपत्य को समाप्त कर दिया। नए शक्ति संतुलन में परिवर्तन ने प्रत्यक्ष विरोध से आंदोलन की दिशा बदल दी। अब दोनों शक्तियों ने मित्रों के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण संसाधनों का विस्तार शुरू कर दिया। उनकी सफलताओं ने द्विध्रुवीय विश्व (Bipolar World) का निर्माण किया जहाँ एक ओर अमेरिका और उसके मित्र थे तो दूसरी ओर सोवियत संघ और उसके मित्र। महाशक्तियों का केंद्र-बिंदु यूरोप था जहाँ वे अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे और जहाँ सर्वप्रथम शीतयुद्ध आरंभ हुआ। अमेरिका के यूरोपीय मित्र और सोवियत संघ क्रमश: उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (NATO) और वारसा पैक्ट (Warsaw Pact) में विभाजित हो गए। ये गठबंधन महाशक्तियों की बाहरी नीतियों का आधार बन गए। इसके अतिरिक्त, परमाणु शस्त्रों (Nuclear Weapons) के आविष्कार ने विश्व राजनीति में युद्ध के भय से उत्पन्न हो रही भूमिका में व्यापक परिवर्तन ला दिया।

जोसेफ स्टालिन के उत्तराधिकारी निकिता ख्रुश्चेव (Nikita Khrushchev) ने पूंजीवाद के साथ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति (Policy of Peaceful Co-existence) का प्रचार किया। वर्ष 1963 में अमेरिका और सोवियत संघ की सैन्य क्षमता से बढ़ती प्रतिद्वंद्विता के संबंध में परमाणु युद्ध (Nuclear War) से संभावित पारस्परिक विनाश के बढ़ते भय ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि सह-अस्तित्व एकमात्र विकल्प रह गया। इसका परिणाम हुआ- 1968 की परमाणु परीक्षण निषेध संधि (Nuclear Test Ban Treaty)। अब महाशक्तियाँ यूरोपीय सीमाओं के स्थायीकरण, जिसमें वह सीमा भी शामिल है जो जर्मनी को विभाजित करती है, से सहमत थीं। इस प्रकार अमेरिका और सोवियत

27 संयुक्त राष्ट्र एवं उसकी अन्य महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ
(United Nations and Its Important Agencies)

संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व का सबसे बड़ा अंतर्राष्ट्रीय संगठन है। विश्व स्तर पर इस तरह का अंतर्राष्ट्रीय संगठन बनाने का यह दूसरा प्रयास था। इसके पहले प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद युद्ध एवं हिंसा को रोकने के लिये राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना की गई थी लेकिन यह संगठन युद्ध रोकने में सफल नहीं हो सका था। द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका को देखते हुए युद्ध के दौरान ही विश्व के प्रमुख नेताओं ने एक ऐसा संगठन बनाने पर विचार करना शुरू कर दिया था जो भावी पीढ़ी को युद्ध की विभीषिका से बचाए, साथ ही विश्व में शांति भंग करने के प्रयासों को रोक सके। इसे देखते हुए द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 51 देशों द्वारा 24 अक्टूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। ये देश अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा बनाए रखने, राष्ट्रों के बीच मित्रतापूर्ण संबंध विकसित करने, सामाजिक प्रगति, बेहतर जीवन-स्तर की प्राप्ति तथा मानवाधिकारों को प्रोत्साहित करने के प्रति प्रतिबद्ध थे।

संयुक्त राष्ट्र (United Nations)

स्थापना : 24 अक्टूबर, 1945
मुख्यालय : न्यूयॉर्क सिटी
प्रमुख अंग : 6 (संयुक्त राष्ट्र महासभा, सुरक्षा परिषद, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद, न्यासिता परिषद, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय, सचिवालय)

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य
(Objectives of United Nations)

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 1 के अनुसार इसके प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं-

- अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा बनाए रखना।
- समान अधिकार और लोगों को आत्म-निर्णय सिद्धांत के आधार पर देशों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों का विकास करना।
- अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, मानवीय समस्याओं के समाधान के लिये सहयोग करना और मानवाधिकारों एवं बुनियादी स्वतंत्रता के प्रति सम्मान को बढ़ावा देना।
- इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये प्रयास कर रहे देशों की गतिविधि में समन्वय स्थापित करने के लिये एक केंद्र के रूप में कार्य करना।

समय के साथ संयुक्त राष्ट्र संघ ने इन उद्देश्यों से जुड़े हुए लक्ष्य भी निर्धारित किये हैं, ये हैं- निःशस्त्रीकरण और नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धांत
(Principles of the United Nations)

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद-2 के अंतर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं-

- यह सभी सदस्य देशों की प्रभुता की समानता पर आधारित है।
- सभी सदस्य देश घोषणा-पत्र में वर्णित अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करेंगे।
- वे अंतर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा एवं न्याय को खतरे में डाले बगैर अपने विवादों का अंतर्राष्ट्रीय समाधान खोजने का प्रयास करेंगे।
- सदस्य देश किसी दूसरे देश के विरुद्ध बल का प्रयोग करने अथवा उसको धमकी देने में संयम बरतेंगे।
- संयुक्त राष्ट्र यह सुनिश्चित करेगा कि ऐसे देश जो कि उसके सदस्य नहीं हैं अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा बनाए रखने के लिये उसके सिद्धांतों के अनुरूप ही व्यवहार करें।

संयुक्त राष्ट्र संघ की संरचना
(Structure of the United Nations)

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंग हैं- महासभा, सुरक्षा परिषद, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय, न्यासिता परिषद एवं सचिवालय।

1. **महासभा (General Assembly) :** संयुक्त राष्ट्र संघ के एक प्रमुख अंग के रूप में महासभा कार्य करती है जिसमें सभी सदस्य देशों के प्रतिनिधियों को आपसी विचार-विमर्श करने के लिये महासभा में स्थान दिया जाता है। इस सभा में सभी इच्छुक राष्ट्रों को बिना किसी भेदभाव के सदस्यता दी जाती है। प्रत्येक सदस्य को इसमें अपने 5 प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है, किंतु किसी निर्णायक मतदान के अवसर पर उन पाँचों का केवल एक ही मत माना जाता है। इसका अधिवेशन साधारणतः वर्ष में एक बार होता है। इसे घोषणा-पत्र के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत सभी विषयों पर विचार करने का अधिकार है। प्रत्येक राष्ट्र का प्रतिनिधित्व होने के कारण इसे 'विश्व की लघु संसद' की संज्ञा दी गई है।
2. **सुरक्षा परिषद (Security Council) :** सुरक्षा परिषद संयुक्त राष्ट्र संघ का सबसे महत्त्वपूर्ण संगठन है। सुरक्षा परिषद में 5 स्थायी और 10 अस्थायी सदस्य होते हैं। इस परिषद को अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा का पहरेदार माना जाता है। जब भी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सामने शांति भंग होने का संकट खड़ा होता है, उससे संबंधित विषय को यहीं लाया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्राँस, रूस तथा चीन इसके पाँच स्थायी सदस्य हैं। अस्थायी सदस्यों का चुनाव महासभा द्वारा दो-तिहाई बहुमत से 2 वर्षों के लिये होता है। किसी भी वाद-विवाद के अंतिम निर्णय के लिये पाँच स्थायी सदस्यों की सर्वसम्मति अनिवार्य है। यदि कोई भी स्थायी सदस्य किसी विषय पर निर्णय लेने के समय नकारात्मक मत देता है, तो वह निर्णय रद्द हो जाता है। इस विशेषाधिकार को वीटो शक्ति (Veto Power) कहते हैं।

28 क्षेत्रीय संगठन (Regional Organization)

क्षेत्रीय संगठन ऐसे देशों का समूह है जो किसी साझे उद्देश्य की प्राप्ति हेतु रणनीति बनाने एवं कार्य करने के लिये साथ आते हैं। इन उद्देश्यों में मुख्यत: आर्थिक, राजनीतिक, सामरिक एवं सुरक्षा संबंधी हित सम्मिलित होते हैं। क्षेत्रीय संगठन में मुख्यत: किसी एक (समान) भौगोलिक क्षेत्र के देश शामिल होते हैं, किंतु इसका स्वरूप अंतर्राष्ट्रीय भी हो सकता है।

यूरोपीय संघ (European Union)

'यूरोपीय संघ' यूरोप महाद्वीप के 27 देशों (ब्रिटेन ने 31 जनवरी, 2020 को ई.यू. से अपने आपको हटा लिया है।) का एक विशिष्ट आर्थिक एवं राजनीतिक संघ है, जो संपूर्ण यूरोप के ज़्यादातर हिस्सों को समाहित करता है। यूरोपीय संघ का मुख्यालय बेल्ज़ियम के ब्रुसेल्स में स्थित है।

यूरोपीय संघ के 19 देशों द्वारा समान मुद्रा 'यूरो' (EURO) प्रयोग की जाती है। यूरो प्रयोगकर्त्ता देशों को सामूहिक रूप से 'यूरोज़ोन' के नाम से जाना जाता है। यूरोपीय संघ सामूहिक रूप से विश्व की दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) के अनुसार 2016 में वैश्विक सकल घरेलू उत्पाद में यूरोपीय संघ की हिस्सेदारी 22.8 प्रतिशत है। वर्तमान में हम यूरोपीय संघ की जो व्यवस्था देख रहे हैं, उसका विकास द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् यूरोपीय देशों के मध्य हुए विभिन्न समझौतों से हुआ है। जुलाई 2013 में क्रोएशिया ने यूरोपीय संघ की सदस्यता ली थी।

यूरोपीय संघ का विकास कई संधियों के माध्यम से हुआ, जैसे– पेरिस संधि (1951), रोम संधि (1957), ब्रुसेल्स संधि (1965), मैस्ट्रिच संधि (1992), एम्सटर्डम संधि (1997), नीस संधि (2001), लिस्बन संधि (2007)।

यूरोपीय संघ एवं भारत *(European Union and India)*

भारत एवं यूरोपीय संघ के मध्य वर्तमान संबंधों की शुरुआत 1964 ई. में हुई जिसमें बदलती वैश्विक परिस्थितियों तथा भारत की रक्षा रणनीतियों के कार्यान्वयन (नाभिकीय परीक्षण) के कारण उतार-चढ़ाव देखे गए। वर्तमान में यूरोपीय संघ भारत का सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार है (भारत के 13.4% वैश्विक व्यापार के साथ) तथा भारत में वर्ष 2000 से 2017 तक आए सकल प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का 24% भाग यूरोपीय संघ से प्राप्त हुआ।

भारत के लिये यूरोपीय संघ का महत्त्व *(Importance of European Union for India)*

'मेक इन इंडिया' कार्यक्रम के अंतर्गत भारत को विनिर्माण हब बनाने की दिशा में यूरोपीय संघ के देश महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। यूरोपीय कंपनियाँ पूंजी, तकनीक तथा प्रबंधन कौशल प्रदान कर भारत के विनिर्माण हब बनने के सपने को यथार्थ रूप प्रदान करने में सहायता कर सकती हैं।

- फ्राँस, जर्मनी तथा इटली की दिग्गज कंपनियाँ भारत को रक्षा तकनीक के क्षेत्र में प्रभावी योगदान कर भारत की अन्य देशों पर हथियारों हेतु निर्भरता को कम करने में सहायक सिद्ध हो सकती हैं।
- यूरोपीय देशों से भारत के 'स्मार्ट सिटी' कार्यक्रम के अंतर्गत भारतीय शहरों को स्थानीय विशेषताओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप नियोजित करने हेतु आवश्यक तकनीकी सहायता, पूंजी तथा विशेषज्ञता प्राप्त हो सकती है।
- विभिन्न यूरोपीय देशों के सहयोग से देश में कौशल विकास की प्रक्रिया को तीव्र कर रोज़गार अवसरों में विविधता लाई जा सकती है। इस दिशा में भारत सरकार ने जर्मनी तथा नीदरलैंड्स के साथ कुछ समझौते भी किये हैं।
- संयुक्त राज्य अमेरिका की 'अमेरिका प्रथम' तथा अन्य संरक्षणवादी नीतियों के प्रतिकूल प्रभाव से बचने के लिये यूरोपीय बाज़ार एक विकल्प सिद्ध हो सकता है।
- गंगा नदी स्वच्छता कार्यक्रम, अत्याधुनिक अवसंरचना विकास कार्यक्रम, मानव संसाधन विकास, स्वच्छ ऊर्जा तकनीक, अंतरिक्ष एवं महासागरीय शोध इत्यादि ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें यूरोपीय संघ भारत के लिये महत्त्वपूर्ण मददगार बनने में सक्षम है।

यूरोपीय संघ के लिये भारत का महत्त्व *(Importance of India for European Union)*

- विश्व की 17% जनसंख्या के साथ बड़ी युवा आबादी भारत में एक विशाल बाज़ार निर्मित करती है, जो यूरोपीय संघ की एक अनिवार्य आवश्यकता है।
- बदलते जनांकिकीय परिदृश्य में भारत का प्रशिक्षित युवा कार्यबल यूरोप में बढ़ती मानव संसाधन की कमी को दूर करने में सहायक हो सकता है।
- यूरोप भारतीय कृषि उत्पादों का बड़ी मात्रा में आयात करता है। भारत यूरोप की कृषि उत्पादन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम है।
- यूरोपीय समुदाय में भारतीय संस्कृति के प्रति रुचि होने के कारण भारत योग प्रशिक्षण, आयुर्वेद शिक्षा तथा आध्यात्मिक पर्यटन हेतु आदर्श गंतव्य सिद्ध हो सकता है।
- भारतीय समुदाय में यूरोपीय संस्कृति के प्रति आकर्षण होने के कारण भारत यूरोपीय उपभोक्ता सामग्रियों हेतु बड़ा बाज़ार उपलब्ध कराता है।

यूरोप के देश तथा भारत बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था के समर्थक हैं। मानवाधिकार, पर्यावरण संरक्षण तथा परमाणु अप्रसार; ऐसे मुद्दे हैं जिनमें दोनों के विचार परस्पर सहयोगी हैं। आतंकवाद से निपटने हेतु

29 अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद एवं पर्यावरणीय मुद्दे
(International Terrorism and Environmental Issues)

आतंकवाद के संदर्भ में अनेक मत दिये जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप वैश्विक स्तर पर अभी तक इसे औपचारिक रूप से परिभाषित नहीं किया जा सका है। यद्यपि विचारकों एवं विश्लेषकों की एक व्यापक सहमति एवं समझ के अनुसार आतंकवाद से तात्पर्य ऐसे हिंसक कृत्यों से है, जिनका उद्देश्य अपनी विचारधारा के प्रचार-प्रसार तथा निहित धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक हितों की प्राप्ति हेतु भय का वातावरण उत्पन्न करना है। बड़े पैमाने पर हिंसा का प्रयोग निहत्थी भीड़ पर करने के कारण इसके गुणनकारी परिणाम होते हैं, वहीं वर्तमान में मीडिया की सक्रियता, सोशल मीडिया की व्यापक पहुँच और इस प्रकार के अन्य प्रचार माध्यम इसे अनचाहे सहयोग प्रदान करने का ही कार्य करते हैं। आतंकवाद का प्रमुख उद्देश्य व्यापक जनसमूह को भयाक्रांत कर अपनी विचारधारा के प्रति मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रभाव उत्पन्न करना है।

आतंकवाद (Terrorism)

'आतंकवाद' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग फ्राँस की क्रांति के दौरान हुआ, जबकि अमेरिका में राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन के कार्यकाल में तथा उसके पश्चात् 9/11 की घटना के बाद यह शब्द अत्यधिक प्रचलित हुआ।

आज विश्व के लगभग सभी हिस्सों में आतंकवादी गतिविधियाँ अपने पाँव पसार चुकी हैं। यही नहीं, समय के साथ इसके स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहा है, जिसे हम सुनियोजित आतंकवादी गतिविधियों, यथा- 26/11 मुंबई, 9/11 संयुक्त राज्य अमेरिका से लेकर हाल ही में हुए लोन वूल्फ अटैक, यथा- लॉस वेगास की घटना, पेरिस की घटना के रूप में देख सकते हैं। सितंबर 2013 में नैरोबी स्थित मॉल पर हमला आंतकवादी संगठन अलशबाब ने किया था।

अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद (International Terrorism)

अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद से तात्पर्य आतंकवाद के ऐसे स्वरूप से है, जिसका विस्तार राष्ट्रीय सीमाओं से परे होता है। इसमें आतंकवादी गतिविधियों को अंजाम देने वाला व्यक्ति या समूह तथा इस कृत्य से प्रभावित होने वाले लोग दो या अधिक अलग-अलग राष्ट्रों से संबंधित हो सकते हैं। इसके प्रमुख उदाहरण के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका की 9/11 आतंकवादी घटना को देखा जा सकता है, जिसका संचालन अल कायदा प्रमुख ओसामा बिन लादेन के द्वारा सऊदी अरब में रहते हुए किया गया। इस घटना ने आतंकवाद के प्रति वैश्विक जनसमूह का ध्यान आकर्षित करते हुए विश्व को इसकी गंभीरता एवं विनाशक प्रवृत्ति से अवगत कराया।

अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद को निम्नलिखित परिस्थितियों में परिभाषित किया जा सकता है–

- जब आपराधिक कृत्य का निष्पादन अंतर्राष्ट्रीय कानून के अंतर्गत हुआ हो।
- इस कृत्य से उत्पन्न खतरे का स्वरूप अंतर्राष्ट्रीय हो।
- इन कृत्यों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिये अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग की आवश्यकता एवं अपेक्षा हो।

कुछ प्रमुख आतंकवादी संगठन

संगठन	प्रमुख संचालन क्षेत्र
आई.एस.आई.एस.	सीरिया, इराक, लेबनान
अलकायदा	मध्य पूर्व, सोमालिया
हक्कानी नेटवर्क	अफगानिस्तान
लश्कर-ए-तैयबा	पाकिस्तान, अफगानिस्तान, कश्मीर
इंडियन मुजाहिदीन	भारत
जैश-ए-मोहम्मद	पाकिस्तान
हमास	फिलीस्तीन
बोको हरम	नाइजीरिया, कैमरून, चाड
हिजबुल्लाह	लेबनान
अल-नुशरा	सीरिया, लेबनान
अल सय्याफ	फिलीपींस, मलेशिया

अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद का खतरा क्यों बढ़ता जा रहा है? (Why the Risk of International Terrorism is Increasing)

आधुनिक संचार तकनीकों के प्रयोग से आतंकवादी गतिविधियों को अंजाम देना अपेक्षाकृत सरल होता जा रहा है, जिससे प्रभावित स्थल से दूर रहते हुए व्यापक हिंसक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। साथ ही विचारधारा के स्तर पर बँटे विश्व में बढ़ते ध्रुवीकरण के कारण विभिन्न जातीय, धार्मिक नस्लीय समूहों के उच्च शिक्षित लोगों का रुझान भी इस तरफ देखा जा रहा है, जिसका सीधा असर आतंकवादी गतिविधियों की प्रभाविता एवं गंभीरता को बढ़ाता है। तकनीकी शिक्षा प्राप्त युवा आधुनिक तकनीकों का बेहतर प्रयोग करने में सक्षम होते हैं तथा आतंकवाद के प्रति सुभेद्यता को गंभीर बनाते हैं।

वहीं सोशल मीडिया, मीडिया एवं अन्य प्रचार माध्यमों के सहयोग से आतंकवादी संगठनों को अपनी विचारधारा के तीव्र प्रसार में सहायता प्राप्त हुई है, जिससे युवाओं को आकर्षित करने तथा संगठन से जुड़कर अपनी सेवा प्रदान करने हेतु प्रोत्साहित किया जा रहा है।

इसके कुछ उदाहरण हाल ही में केरल एवं बंगलुरु में देखे गए, जहाँ आई.एस.आई.एस. में भर्ती होने के इच्छुक युवाओं ने सीरिया या इराक जाने के असफल प्रयास किये।

30 भारत की विदेश नीति
(Foreign Policy of India)

अन्य देशों के साथ संबंधों से संबंधित नीति को किसी देश की विदेश नीति (Foreign Policy) कहा जाता है। सामान्यत: विदेश नीति के अंतर्गत राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रसंगों से जुड़े सभी विषयों, जैसे कि शांति, नि:शस्त्रीकरण,, जलवायु परिवर्तन, विकास, न्याय, भूमंडलीकरण आदि के संदर्भ में देशों के मध्य संबंधों के संचालन को शामिल किया जाता है। अन्य शब्दों में, यह वैश्विक मामलों में अपने राष्ट्रीय हितों की तलाश में किसी देश की नीति की रूपरेखा होती है। वस्तुत: एक राष्ट्र-राज्य अपनी विदेश नीति के माध्यम से ही अन्य राज्यों के व्यवहार को नियंत्रित करने का प्रयत्न करता है।

विदेश नीति : अर्थ एवं कार्य-क्षेत्र (Foreign Policy : Meaning and Scope)

जहाँ तक विदेश नीति को सुपरिभाषित करने का प्रश्न है तो विदेश नीति की अपनी पारंपरिक परिभाषा है- "किसी अन्य देश के व्यवहार को बदलने तथा अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में अपनी गतिविधियों को समायोजित करने के लिये अपने देश के क्रियाकलापों की व्यवस्था ही हमारी 'विदेश नीति' कहलाती है।"

यह माना जाता है कि किसी देश की विदेश नीति केवल उसके राष्ट्रीय हित (National Interest) से प्रेरित होती है तथा दूसरे देशों के साथ समझौता करने में कोई भी अन्य प्राथमिकता सम्मिलित नहीं होती। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि फिर 'राष्ट्रीय हित' का निर्माण कैसे होता है? इस संदर्भ में दो मत सामने आते हैं- आदर्शवादी मत (Idealistic View), जहाँ 'राष्ट्रीय हित' को कुछ सार्वभौमिक भौतिक आकांक्षाओं, जैसे कि शाश्वत शांति अथवा मानवीय भाई-चारे से जोड़कर देखा जाता है और यथार्थवादी मत (Realistic View), जिसके अनुसार राष्ट्रीय हित (National Interest) को राष्ट्रीय शक्ति (National Power) के बराबर का दर्जा दिया जाता है।

वास्तव में राष्ट्रीय हित (National Interest) ही विदेश नीति की प्रमुख संकल्पना है, क्योंकि राष्ट्रीय हित ही किसी राज्य की आकांक्षाओं को परिभाषित करते हैं। इसका राज्य की अन्य नीतियों एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के संदर्भ में भी व्यावहारिक रूप से प्रयोग किया जा सकता है। साथ ही इसका राजनीतिक रूप से भी अनुप्रयोग व्यवहार्य है। यहाँ यह बात महत्त्वपूर्ण है कि आज वैश्वीकरण के दौर में किसी देश के राष्ट्रीय हित को उसकी भू-राजनीतिक अवस्थिति (Geo-Political Location) एवं वैश्विक पर्यावरण (Global Environment) से अलग करना मुश्किल है। कुल मिलाकर किसी देश की विदेश नीति उसके विभिन्न लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये संचालित कार्य-योजनाओं के कुल योग से कहीं अधिक होती है। साथ ही किसी देश की विदेश नीति न केवल घरेलू कारकों बल्कि अंतर्राष्ट्रीय कारकों से भी निर्धारित होती है। इनमें कुछ गतिशील कारक (Dynamic Factors) होते हैं, जो समय के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं और कुछ मौलिक कारक (Basic Factors) होते हैं जो विदेश नीति पर दीर्घकालिक प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी देश की विदेश नीति के कार्यान्वयन हेतु निरंतरता और परिवर्तन दोनों ही आयाम अपना अस्तित्व रखते हैं।

विदेश नीति का महत्त्व (Importance of Foreign Policy)

आज के विश्व में घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय जगत् के बीच विद्यमान अंतर निरंतर कम होता जा रहा है। अत: जब हम विदेश नीति के बारे में सोचते हैं तो हमें इसके घरेलू निहितार्थों के विषय में भी अवश्य सोचना चाहिये। किसी भी देश की विदेश नीति का अंतिम प्रयोजन अपने नागरिकों की सुरक्षा के साथ-साथ उनके हित एवं खुशहाली को भी बढ़ावा देना होता है। आज एक ऐसे विश्व की दरकार बनी हुई है, जो आपको शांति एवं सुरक्षा का ऐसा परिवेश उपलब्ध करा सके, जिसमें आप विदेशी शोषण से सुरक्षित रहकर और बाहरी अवसरों का लाभ उठाते हुए निरंतर प्रगति कर सकें।

हमें किसी भी देश को अपने बहुपक्षीय क्रियाकलापों के लिये निरंतर नए निकायों और व्यवस्थाओं से जोड़ना होता है। उदाहरण के लिये, भारत 'इब्सा' वार्ता मंच (IBSA Dialogue Forum), ब्रिक्स (BRICS) तथा दक्षेस (SAARC) से लेकर पूर्वी एशियाई शिखर सम्मेलन (EAS) का सदस्य होने के साथ-साथ जी-20 (G-20) तथा एशियाई क्षेत्रीय मंच (ARF) का भी सदस्य है। उसे शंघाई सहयोग संगठन (SCO) के पूर्ण सदस्य का दर्जा जून 2017 में कज़ाखस्तान शिखर सम्मेलन में मिल गया और वह जी-7 (G-7) की बैठकों में भी भाग लेता है। संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) जैसे अंतर्राष्ट्रीय एवं सुविख्यात संगठनों में अपने राष्ट्रीय हितों को उचित स्थान दिलाने के साथ-साथ भारत हिंद महासागर तटीय क्षेत्र सहयोग संघ (IOR-ARC) जैसे संगठनों में भी अपना प्रमुख स्थान रखता है।

किसी देश को केवल बहुपक्षीय संगठनों के बारे में ही नहीं सोचना चाहिये। चूँकि अन्य अर्थों में भी विश्व अब बदल गया है, उसे किसी भी अन्य देश में उपलब्ध सुविधाओं का लाभ उठाने व अपनी सेवाएँ उनके लिये प्रस्तुत करने को उद्यत रहना चाहिये। वस्तुत: किसी भी देश को ऐसे विश्व के अनुकूल बनना चाहिये। कुल मिलाकर विदेश नीति इतना महत्त्वपूर्ण मुद्दा है कि इसमें सिर्फ विदेश मंत्रालय ही नहीं, बल्कि पूरे समाज और विशेष रूप से शिक्षित युवाओं की सक्रिय भागीदारी अपेक्षित होती है ताकि उनके देश की प्रस्थिति विश्व मंच पर उजागर हो और उनके अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को साकार किया जा सके।

भारत की विदेश नीति का विकास (Development of India's Foreign Policy)

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के संदर्भ में, भारत की विदेश नीति के उद्देश्य इतने आधारभूत हैं कि उन्हें विभिन्न राजनीतिक दलों और जनसाधारण

31 भारत का अन्य देशों के साथ संबंध
(India's Relations With Other Countries)

वर्तमान परिवेश में, किसी भी देश या नगर-राज्य के नागरिक के लिये केवल अपने ही देश के बारे में सोचना बिल्कुल भी यथार्थपरक नहीं होगा। ध्यातव्य है कि अमेरिका में 11 सितंबर, 2001 में घटी घटना ने वैश्विक ग्राम (Global Village) के विषय में हमारी पुरानी धारणा को ही स्पष्ट किया अर्थात् इस एक घटना ने यह साफ कर दिया कि यदि किसी दूरस्थ गाँव के किसी कोने में अवस्थित फूस की झोंपड़ी अथवा धूल भरे किसी शिविर में आग लगती है तो यह हमारे वैश्विक ग्राम के दूसरे छोर पर अवस्थित ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं में लगी इस्पात की चादरों को भी पिघला सकती है। अन्य शब्दों में, आज विश्व में जो मुद्दे कभी दूर के लगते थे, वे अब आपके आँगन में आ गए हैं। अत: हमारा विकल्प स्पष्ट होना चाहिये कि यदि हमें अपने देश में अपनी इच्छा के अनुरूप समाज का निर्माण करना है और इसे बनाए रखना है तो हमें वैश्विक स्तर पर भी निश्चित रूप से सक्रिय रहना होगा।

वर्तमान में भारत पर अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। हमारा स्वास्थ्य, हमारी सुरक्षा, हमारी संवृद्धि एवं समृद्धि के साथ-साथ हमारे जीवन की गुणवत्ता भी उत्तरोत्तर इस बात से प्रभावित होती है कि देश की सीमा के पार क्या हो रहा है? यही कारण है कि हम पड़ोस में होने वाली घटनाओं को नज़रअंदाज करने का साहस नहीं कर सकते, बेशक ये घटनाएँ कहीं दूर घटती प्रतीत होती हों। दरअसल, आज के विश्व में आपको दूसरों के संबंध में जानकारी रखना लाभकारी ही होगा।

भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका
(India and United States of America)

संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व का सबसे पुराना लोकतंत्र होने के साथ एक महाशक्ति है जो वैश्विक परिदृश्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है तथा अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं एवं नीतियों को प्रभावित करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व व्यवस्था में संतुलन बनाए रखने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस क्रम में भारत के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ संबंधों को व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाना अनिवार्य हो जाता है। शीत युद्ध के पहले तथा बाद में भारत-अमेरिकी संबंधों में प्राय: उतार-चढ़ाव देखे गए, जिसका प्रमुख कारण दोनों देशों के द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु प्रयत्न तथा वैश्विक शक्ति संतुलन स्थापित करने हेतु व्यवस्था निर्माण के रूप में देखा जा सकता है।

भारत-अमेरिकी संबंधों में सहयोग के मुद्दे
(Issues of Co-operation Between India and USA)

- दोनों देश लोकतांत्रिक व्यवस्था से संचालित होते हैं।
- भारत तथा अमेरिका दोनों ही मुक्त अर्थव्यवस्था तथा उदारवाद को प्रोत्साहन देते हैं।
- अमेरिका आर्थिक एवं तकनीकी रूप से अत्यधिक विकसित देश है, जो भारत के आर्थिक एवं तकनीकी विकास में सहायक सिद्ध होता है।
- भारत की विशाल जनसंख्या अमेरिकी पूंजीवादी कंपनियों को बड़ा बाज़ार उपलब्ध कराती है।
- भारत और अमेरिका दोनों आतंकवाद के शिकार रहे हैं। अत: आतंकवाद के विरुद्ध साझा सहयोग दोनों की प्राथमिकता में है।
- चीन का शक्तिशाली उभार दोनों देशों के लिये चिंता का विषय है, जिसे संतुलित करने हेतु भारत एवं अमेरिका के बीच सहयोग अपेक्षित है।
- अफगानिस्तान में शांति एवं स्थायित्व तथा क्षमता निर्माण दोनों देशों की प्राथमिकता में शामिल है।
- अमेरिका में एक बड़ी जनसंख्या भारतीय मूल की है जो दोनों देशों के मध्य परस्पर सांकृतिक, सामाजिक मेल-मिलाप को बढ़ाकर सहयोगी एवं सकारात्मक वातावरण का निर्माण करती है।

भारत और अमेरिका के बीच मतभेद के मुद्दे
(Issues of Differences Between India and USA)

- भारत का अमेरिका के साथ-साथ रूस एवं चीन से भी महत्त्वपूर्ण संबंध रहे हैं, जबकि अमेरिका, रूस और चीन को प्रति संतुलित करने का प्रयास करता रहता है, जिसका प्रभाव भारत-रूस एवं भारत-चीन संबंधों पर पड़ता है।
- भारतीय विदेश नीति की प्रमुख विशेषता गुटनिरपेक्षता है, जबकि अमेरिका में ऐसा मानने की प्रवृत्ति रही है कि जो हमारे साथ नहीं है, वह हमारा विरोधी है।
- कश्मीर के मुद्दे पर भारत को अमेरिका से पर्याप्त सहयोग नहीं मिल सका है।
- अमेरिकी अर्थव्यवस्था की विशेषता पूंजीवाद है, जबकि भारत मुख्यत: समाजवादी आर्थिक प्रणाली को समर्थन प्रदान करता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1962 तक भारत और अमेरिका के बीच संबंध अत्यंत मित्रतापूर्ण रहे, वहीं 1962 के बाद से लेकर 1971 तक भारत अमेरिकी संबंधों में संदेह एवं अविश्वास देखा गया। 1971 में तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के द्वारा सोवियत संघ के साथ मिलकर संधि पर हस्ताक्षर किये जाने के बाद भारत-अमेरिकी संबंध परस्पर विरोधी हो गए, जिससे भारत, अमेरिका से प्राप्त होने वाले सहयोग से वंचित हो गया। 1991-92 में हुए आर्थिक सुधारों के बाद उदारीकरण, वैश्वीकरण तथा नि:शस्त्रीकरण, की नीति अपनाने के पश्चात् भारत अमेरिकी संबंध पुन: सुधरने शुरू हुए। 1998 में भारत द्वारा परमाणु परीक्षण किये जाने के बाद पुन: भारत-अमेरिका संबंधों में दरार आ गई, जिसे सिविल परमाणु समझौते के साथ सुधारने का प्रयास किया गया। इस समझौते (2010)

32 एशिया में भू–राजनीतिक एवं रणनीतिक विकास
(Geo-Political and Strategic Development in Asia)

एशिया विश्व का सबसे बड़ा महाद्वीप होने के साथ सर्वाधिक जनसंख्या वाला महाद्वीप भी है। एशिया में क्षेत्रीय स्तर पर सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक-आर्थिक एवं धार्मिक रूप से व्यापक विविधता विद्यमान है। कभी-कभी विविधता ना सिर्फ तनाव का कारण बनती है बल्कि कई विवादों एवं अशांति को भी जन्म देती है। एशिया में पश्चिम एशिया सर्वाधिक अशांत क्षेत्र है। वहीं दक्षिण एशिया के विकासशील देश अपने विकास कार्यक्रमों को तीव्र गति से संचालित कर रहे हैं। दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों ने आर्थिक एवं सामाजिक विकास के नए प्रतिमान हासिल किए हैं। ऐसे में इन क्षेत्रों के साथ भारत के संबंधों का रणनीतिक एवं सामरिक पक्ष भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जो भारत के निरंतर विकास एवं स्थायी शांति हेतु आवश्यक है।

दक्षिण एशिया एवं भारत (South Asia and India)

जहाँ तक दक्षिण एशिया का प्रश्न है तो इसे एक विडंबना ही कहा जाएगा कि दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय एकीकरण के लिये किसी योजना का सूत्रपात करने की ज़रूरत पड़े। अंग्रेज़ों द्वारा उपनिवेश बनाए जाने के पहले भारत की अपनी अलग पहचान थी। ईसा के जन्म से तीन शताब्दी पहले ही इस भू-भाग में मौर्य साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी, जिसका विस्तार उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में मैसूर तक और पश्चिम में पुरुषपुर (पेशावर) से लेकर पूरब में बंगाल की खाड़ी तक था। सल्तनत व मुगल काल में भी समूचे भारतीय उपमहाद्वीप को ही सुल्तान या बादशाह एक ऐसा क्षेत्र समझता था जिस पर आधिपत्य स्थापित किये बिना उसकी संप्रभुता को निरापद या निर्विवाद नहीं समझा जा सकता। भारत की अपनी अलग पहचान है जो एक स्वायत्त-संपन्न-सबल राजनीतिक इकाई के रूप में ही नहीं बल्कि एक प्रभावशाली सांस्कृतिक स्रोत के रूप में भी हज़ारों वर्ष पुरानी व सुप्रतिष्ठित है।

धर्म, भाषा, वेश-भूषा, स्थापत्य कला, ललित कला तथा चिंतन पर भी अफगानिस्तान से लेकर इंडोनेशिया तक भारतीय छाप आज भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। दुर्भाग्य से विदेशी साम्राज्यवादियों ने न केवल भारत की भौगोलिक एकता को धूर्ततापूर्वक खंडित किया वरन् उसकी सांस्कृतिक बहुलता को भी इन देशवासियों के बीच फूट डालने के उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया। आज का दक्षिण एशिया स्वतंत्रता तक एक ही था– इसके विभिन्न हिस्से आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में परस्पर पूरक थे। नहरों का जाल हो या रेल की पटरियों का तंत्र, यह सब भारतीय उपमहाद्वीप की अविभाजित पहचान को महत्त्वपूर्ण मानकर ही बनाए गए थे।

श्रीलंका से बर्मा (वर्तमान म्याँमार) तक के क्षेत्र ब्रिटिश भारतीय सरकार के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े थे। स्वयं अंग्रेज़ों ने बड़े पैमाने पर भारतीय मजदूरों, कारीगरों को ले जाकर इन दोनों जगहों पर अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये बसाया था और इनके पीछे-पीछे भारी संख्या में डॉक्टर, वकील और व्यापारी भी वहाँ पहुँच गए। इन प्रवासी भारतीयों के माध्यम से भारतीय भू-भाग का आत्मिक और घनिष्ठ आर्थिक संबंध इन दोनों देशों के साथ बना रहा है। नेपाल के साथ यह नाता तो और भी नज़दीकी का है। श्रीलंका के संदर्भ में भारत के पूर्व प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने तो यहाँ तक कहा था कि उस देश के निवासियों के साथ हमारा हाड़-माँस का रिश्ता है।

ब्रिटिश सेनाओं ने 1816 में नेपाली सेनाओं को निर्णायक रूप से पराजित किया था और **सुगौली की संधि** (Treaty of Sugauli) के बाद यह स्पष्ट हो गया था कि भारतीय उपमहाद्वीप में (नेपाल समेत) अंग्रेज़ ही संप्रभु शासक समझे जा सकते हैं। सिक्किम और भूटान ब्रिटिश औपनिवेशिक शासनकाल में भारत सरकार के संरक्षित राज्य थे (अंतर्राष्ट्रीय विधिक मान्यता के अनुसार ऐसे संरक्षित राज्यों को पूर्णत: स्वाधीन या संप्रभु नहीं कहा जा सकता)।

एक लंबे स्वाधीनता संघर्ष के बाद भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्र तो हो गया लेकिन दुर्भाग्य से देश की आज़ादी के साथ ही देश का विभाजन भी कर दिया गया। अंग्रेज़ों ने जब सत्ता का हस्तांतरण किया तो मुस्लिम-बहुल आबादी वाले क्षेत्रों को जोड़कर पाकिस्तान का निर्माण किया गया। पाकिस्तान के पूर्वी और पश्चिमी राज्यों के बीच लगभग डेढ़ हज़ार किमी. का फासला था। विभाजन ने न केवल इस भू-भाग की ऐतिहासिक एकता को नष्ट किया बल्कि भविष्य में आर्थिक या राजनीतिक सहयोग को भी लगभग असंभव बना दिया।

भारत और पाकिस्तान के बीच दरार शीतयुद्ध के कारण और भी गहरी होती गई। भू-राजनीतिक दृष्टि से पाकिस्तान का सामरिक महत्त्व अमेरिका के लिये काफी संवेदनशील था। यही कारण था कि सेंटो (CENTO) और सीएटो (SEATO) संगठनों में उसे शामिल किया गया। दूसरी ओर जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारत अंतर्राष्ट्रीय मंच पर अपनी स्वाधीनता को बरकरार रखने के लिये कटिबद्ध था। भारत ने दो महाशक्तियों के बीच शक्ति-संघर्ष में गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाई थी। तत्कालीन अमेरिकी विदेश मंत्री का मानना था कि जो राष्ट्र हमारे साथ नहीं, वह हमारे विरुद्ध है। परिणामत: अमेरिका पाकिस्तान को अपना मित्र और भारत को अपना शत्रु समझने लगा।

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि पाकिस्तान सदैव अमेरिका द्वारा लाभान्वित हुआ हो। अमेरिका द्वारा आँख मूँदकर बेहद अदूरदर्शी तरीके से पाकिस्तान को दी गई सैनिक सहायता भविष्य में पाकिस्तान के लिये भी आत्मघाती सिद्ध हुई। पाकिस्तान की फौज अपने को सर्वशक्तिमान

33 लोक प्रशासन (Public Administration)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह सदैव समाज में रहता है और प्रत्येक समाज को बनाए रखने के लिये कोई न कोई राजनीतिक प्रणाली अवश्य होती है जिसे नगर-राज्य या राष्ट्र-राज्य कहा जाता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि उसके लिये समाज एवं राजनीतिक प्रणाली अनादि काल से अनिवार्य रही है। राज्य, सरकार एवं प्रशासन के माध्यम से कार्य करता है। राज्य के उद्देश्य, नीतियाँ, कार्यक्रम, परियोजनाएँ आदि कितनी भी प्रभावशाली, उपयोगी और आकर्षण क्यों न हों, उससे तब तक कोई लाभ या सकारात्मक बदलाव नहीं आ सकता जब तक उसको प्रशासन द्वारा कार्य के रूप में परिणित नहीं किया जाए। सामान्यत: प्रशासन किसी क्षेत्र में विशिष्ट शासन या विभिन्न प्रकार की मानवीय गतिविधियों का प्रबंध करने हेतु महत्त्वपूर्ण होता है।

प्रशासन: अर्थ, विशेषताएँ एवं महत्त्व (Administration: Meaning, Features and Importance)

उदारीकरण तथा भूमंडलीकरण ने प्रशासन की संरचना एवं महत्त्व को विशेष रूप से प्रभावित किया है। उत्तम अभिशासन जैसी मान्यताओं ने प्रशासन की परंपरागत अवधारणाओं को चुनौती देते हुए सामाजिक न्याय पर आधारित इसके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये प्रेरित किया है।

अर्थ *(Meaning)*

किसी संगठन या सरकार में उचित ढंग से या उत्कृष्ट रीति से कार्य करने की प्रक्रिया प्रशासन कहलाती है। प्रशासन में निर्देश देना, मार्ग-प्रशस्त करना, आदेश देना इत्यादि क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं। प्रशासन का अर्थ अधिक व्यापक है, जैसे- वित्त प्रशासन, रेल प्रशासन, स्वास्थ्य प्रशासन इत्यादि। "चूँकि प्रशासन एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये सहयोग एवं सकारात्मक उद्देश्य से किया जाने वाला कार्य है; अत: इसके लिये विभिन्न संगठन, अनेक व्यक्तियों का सहयोग तथा सामाजिक हित का उद्देश्य आवश्यक होना चाहिये।" इसके अलावा विभिन्न विद्वानों के अनुसार प्रशासन के अर्थ निम्नलिखित हैं-

- **मार्क्स के मतानुसार**, "प्रशासन चैतन्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिये निश्चयात्मक क्रिया है। यह उन वस्तुओं के एक संगठित प्रयत्न तथा साधनों का निश्चित प्रयोग है, जिसको हम कार्यान्वित करवाना चाहते हैं।"
- **साइमन के अनुसार**, "अपने व्यापक रूप में प्रशासन की व्याख्या उन समस्त सामूहिक क्रियाओं से की जा सकती है, जो सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सहयोगात्मक रूप में प्रस्तुत की जाती हैं।"
- **फिफनर के अनुसार**, "मनुष्य तथा भौतिक संसाधनों का संगठन एवं नियंत्रण ही प्रशासन है।"

विशेषताएँ *(Features)*

प्रशासन की उपर्युक्त परिभाषाओं एवं विभिन्न अर्थों में प्रशासन की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

- प्रशासन की यह खास विशेषता है कि इसमें संगठित होकर कार्य किया जाता है।
- प्रशासन में कार्य करने वाले अधिकारियों एवं कर्मचारियों के पास कुछ प्राधिकार (सत्ता) होते हैं।
- प्रशासन का रूप बड़े-बड़े औपचारिक संगठनों में देखने को मिलता है, जैसे- विश्वविद्यालयों, कॉलेजों, चिकित्सालयों व्यापारिक संगठनों आदि।
- प्रशासन का उद्देश्य प्रशासन में कार्य कर रहे व्यक्तियों के उद्देश्य अलग-अलग होते हैं, जैसे- सरकार द्वारा सड़क बनाने एवं उसमें कार्य कर रहे लोगों के उद्देश्य भिन्न होते हैं।

महत्त्व *(Importance)*

प्रशासन को आधुनिक राज्य का एक अनिवार्य तत्त्व माना जाता है। **निग्रो** के शब्दों में, "प्रशासनिक प्रक्रिया में लोक प्रशासन दोहरी भूमिका निभाता है"-

- नीति-निर्धारण के लिये यह आवश्यक सूचना एवं व्यावसायिक आधार देता है।
- यह नीति के कार्यान्वयन एवं मूल्यांकन में मदद देता है।

आधुनिक समाज में प्रशासन के महत्त्व को विद्वान **ग्रेराल्ड कैडन** ने अपनी पुस्तक 'दि डायनामिक्स ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' (1971) के माध्यम से निम्नलिखित रूप में रेखांकित किया है-

- समाज में व्यवस्था एवं स्थिरता बनाए रखने के रूप में।
- राजनीतिक व्यवस्था का अनुरक्षण करने हेतु।
- सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों को संस्थागत रूप देने में।
- बड़े पैमाने पर वाणिज्यिक सेवाओं को बनाए रखने में।
- आर्थिक विकास एवं संवृद्धि दर बनाए रखने में।
- समाज के कमज़ोर वर्गों की सुरक्षा के लिये।
- लोकमत के निर्माण में।
- सार्वजनिक नीति एवं राजनीतिक प्रवृत्ति की अनुकूल दशा निर्धारित करने हेतु।

पं. जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "लोक प्रशासन सभ्य जीवन का रक्षक मात्र ही नहीं, वरन् सामाजिक न्याय तथा सामाजिक परिवर्तन का महान साधन है।" इसने राष्ट्रों को अपनी सीमाओं की समस्याओं तथा आंतरिक समस्याओं को सुलझाने के साथ-साथ समाज को सतत् आगे बढ़ाने में रचनात्मक रूप से प्रोत्साहित किया है।

34 निजी प्रशासन (Private Administration)

किसी व्यक्ति या गैर-सरकारी संस्थान द्वारा लाभ कमाने के उद्देश्य से किया जाने वाला प्रशासन निजी प्रशासन कहलाता है। इसमें उत्पादन, विनिमय, नियंत्रण एवं प्रबंधन पर निजी नियंत्रण होता है। निजी प्रशासन पर सरकार का हस्तक्षेप नहीं होता है। निजी प्रशासन में लोकहित की भावना निहित नहीं होती है। इनमें स्कूल, कॉलेज, अस्पताल, कोचिंग सेंटर, राजनीतिक दल, क्लब इत्यादि आते हैं।

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में समानताएँ (Similarities in Public Administration and Private Administration)

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के बीच काफी समानताएँ हैं। अनेक ऐसे विचारक हैं जो लोक प्रशासन में निजी प्रशासन की तकनीक व इसके तौर-तरीकों के अधिकाधिक इस्तेमाल करने के हिमायती हैं। हेनरी फेयोल, मेरी पार्कर फॉलेट और उर्विक के अनुसार प्रशासन के मूल तत्त्व प्रायः एक से ही रहते हैं चाहे वे निजी क्षेत्र में हों या सार्वजनिक क्षेत्र में। लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन की समानताओं के मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं-

- लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन, दोनों के लिये संगठन की आवश्यकता होती है। संगठन लोक एवं निजी प्रशासन का शरीर होता है, जिसमें समान प्रशासनिक क्रियाएँ की जाती हैं।
- इन दोनों प्रशासनों की कार्य-प्रणालियों में समानताएँ पाई जाती हैं। इनका मुख्य कार्य 'पोस्डकोर्ब' (POSDCORB) है। इसके साथ ही आँकड़े उपलब्ध कराना, हिसाब-किताब रखना, फाइलें बनाना इत्यादि अन्य कार्य भी शामिल हैं।
- लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन, दोनों में अधिकारियों के उत्तरदायित्व समान होते हैं।
- लोक एवं निजी प्रशासन की सफलता के लिये अधिकारियों एवं कर्मचारियों की योग्यता एवं दक्षता आवश्यक होता है। अर्थात् कुशलता, परिश्रम, ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठ, नेतृत्व, बौद्धिक स्तर आदि गुण दोनों ही प्रशासनों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के लिये समान रूप से आवश्यक होते हैं।
- 21वीं सदी में लोक प्रशासन के क्षेत्र में कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति, वेतनक्रम, सेवानिवृत्ति, पदच्युत करने के नियम तथा पेंशन आदि की वही व्यवस्था अपनाई जाती है जो निजी क्षेत्रों में भी अपनाई जाती है।
- इन दोनों प्रशासनों में जनता से संपर्क आवश्यक होता है। यदि जन-संपर्क नहीं होगा तो कोई भी प्रशासन असफल हो जाएगा। लोक प्रशासन के लिये तो यह अति आवश्यक है, क्योंकि लोक प्रशासन का उद्देश्य जन कल्याण करना होता है।
- दोनों प्रशासनों में अनुसंधान के कार्य भी होते हैं, जिनके द्वारा नए उपकरणों, सिद्धांतों, प्रक्रियाओं का प्रतिपादन किया जाता है।

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के मध्य असमानताएँ (Differences Between Public Administration and Private Administration)

लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन के बीच अनेक समानताएँ होते हुए भी कई बातों में भिन्नताएँ पाई जाती हैं। इनके मध्य असमानता के मुख्य बिंदु निम्नलिखित हैं-

- **लाभ के आधार पर:** निजी प्रशासन का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना होता है जबकि लोक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य जनकल्याण होता है।
- **सेवा भावना के आधार पर:** निजी प्रशासन में सेवा भाव नहीं होता है, जबकि लोक प्रशासन में सेवा भाव के आधार पर कृत्यों का निर्वहन किया जाता है।
- **उत्तरदायित्व के आधार पर:** निजी प्रशासन में अधिकारियों का जनता के प्रति उत्तरदायित्व नहीं होता है, जबकि लोक प्रशासन में अधिकारी जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं।
- **व्यवहार की एकरूपता के आधार पर:** किसी भी निजी प्रशासन में पक्षपात या विशिष्ट व्यवहार किया जा सकता है, जबकि लोक प्रशासन में व्यवहार में एकरूपता, अर्थात् समानता पाई जाती है। इसमें नागरिकों के साथ भेदभाव नहीं किया जाता है।
- **एकाधिकार के आधार पर:** लोक प्रशासन में शासन का एकाधिकार होता है, जबकि निजी प्रशासन में एकाधिकार नहीं होता है, उदाहरणस्वरूप एक ही वस्तुओं का उत्पादन अनेक व्यापारियों द्वारा किया जाता है।
- **वित्तीय नियंत्रण के आधार पर:** लोक प्रशासन में वित्त पर प्रभावी नियंत्रण होता है, जिसमें विधायिका, न्यायपालिका, राजनीतिक कार्यपालिका, जनता तथा गैर-सरकारी संगठन व मीडिया आदि आते हैं, जबकि निजी प्रशासन में वित्त पर नियंत्रण नहीं होता है।
- **लालफीताशाही के आधार पर:** निजी प्रशासन का संगठन व्यापारिक आधार पर होता है, जबकि लोक प्रशासन का आधार नौकरशाही प्रकृति की होती है और नौकरशाही में लालफीताशाही, भ्रष्टाचार, अदक्षता इत्यादि समस्याएँ विद्यमान हैं।
- **क्षेत्रों के आधार पर:** निजी प्रशासन का क्षेत्र सीमित होता है, जबकि लोक प्रशासन का क्षेत्र अधिक व्यापक होता है।
- **नियमों व कानूनों के आधार पर:** लोक प्रशासन में निजी प्रशासन की अपेक्षा नियमों एवं कानूनों की संख्या अधिक होती है, जबकि निजी प्रशासन में स्वतंत्रता प्रदान की जाती है और आवश्यक नियमों का ही पालन किया जाता है।

35 नवीन लोक प्रशासन (New Public Administration)

सामान्यत: यह माना जाता है कि नवीन लोक प्रशासन का शुभारंभ लोक प्रशासन के नवयुवक विद्वानों द्वारा किया गया, जिसमें 1980 में प्रकाशिता एच. जार्ज फ्रेडरिकसन की पुस्तक 'न्यू पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' प्रमुख रही। जहाँ एक ओर दक्षता, मूल्यशून्यता, तटस्थता एवं कार्यकुशलता प्राचीन लोक प्रशासन के सिद्धांत थे, वहीं नैतिकता, जवाबदेहिता, नमनीय तटस्थता, सामाजिक प्रतिबद्धता तथा प्रतिबद्ध शासन प्रणाली पर नवीन लोक प्रशासन जोर देता है। इसके अंतर्गत विद्वानों द्वारा मूल्यों की आधारशिला पर विशेष बल दिया गया। इस प्रकार नवीन लोक प्रशासन जातिगत की अपेक्षा जनोन्मुखी अधिक, विवरणात्मक कम और निर्देशात्मक अधिक, संस्था उन्मुखी कम और ग्राहकोन्मुखी अधिक तथा तटस्थ कम और मूल्यपरक अधिक है।

वाल्डों के अनुसार, "नवीन लोक प्रशासन मानकात्मक सिद्धांत, दर्शन, सामाजिक प्रतिबद्धता और सक्रियतावाद की दिशा में एक प्रकार का क्रांति घोष है।"

नवीन लोक प्रशासन की विशेषताएँ *(Features of New Public Administration)*

नवीन लोक प्रशासन की विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

- नवीन लोक प्रशासन द्वारा राजनीति-प्रशासन द्विविभाजन को अस्वीकार किया गया है। अर्थात् नवीन लोक प्रशासन राजनीति-प्रशासन के एकीकरण पर बल दिया गया है।
- नवीन लोक प्रशासन सकारात्मक एवं आदर्शात्मक होता है और यह प्रत्यक्ष रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी होता है।
- नवीन लोक प्रशासन की यह मान्यता है कि प्रशासन में नीति निर्माण, नीति क्रियान्वयन और नीति मूल्यांकन सदैव नैतिकता के आधार पर होता है। अर्थात् यह नैतिकता पर बल देता है।
- नवीन लोक प्रशासन परिवर्तन में विश्वास रखता है और यह सामाजिक समस्याओं के प्रति संवेदनशील होता है।
- नवीन लोक प्रशासन में विकेंद्रीकरण को बढ़ावा दिया जाता है।
- नवीन लोक प्रशासन में जवाबदेहिता, सामाजिक प्रतिबद्धता, नमनीय तटस्थता एवं प्रतिबद्ध प्रशासन पर बल दिया जाता है।

उद्भव के कारण *(Causes of Genesis)*

1960 के दशक के अंत में जब अमेरिकी समाज विघटन एवं टूट-फूट की स्थिति से गुज़रता हुआ दिखाई दे रहा था तब उस समय का परंपरागत लोक प्रशासन इतना सक्षम नहीं था के वो अमेरिकी समाज के इस संकट को समझ सके। साथ ही जब सामाजिक-आर्थिक संकटों के कारण नई मांगें एवं चुनौतियाँ उत्पन्न हुईं तब भी यह उनका सामना करने में अपने आपको असमर्थ पा रहा था।

आणविक शस्त्रों के कारण उत्पन्न आतंक, गृहयुद्ध, सामाजिक विभेद एवं वियतनाम में अघोषित युद्ध आदि कारण विश्व की नैतिक अंतरात्मा पर प्रहार कर रहे थे। इस प्रकार के वातावरण ने अमेरिका के युवा बुद्धिजीवियों को और भी विचलित कर दिया था। क्योंकि जहाँ न तो शासन द्वारा संस्थापित केंद्र कुछ कर पा रहे थे और ना ही मान्यता प्राप्त शिक्षा के गढ़ों में ही कोई हलचल थी। सामाजिक उथल-पुथल के इस दौर में समाज विज्ञान के अन्य विषयों की तरह लोक प्रशासन जैसा विषय भी पूरी तरह से हिल उठा था। समाज के सामने खड़ी इन चुनौतियों का हल नए विचारों एवं नए नारों में खोजना आवश्यक हो गया था इसी के परिणामस्वरूप एक नया नारा, नया आंदोलन 'नवीन लोक प्रशासन' के नाम से चला।

नवीन लोक प्रशासन का विकास *(Evolution of New Public Administration)*

वर्ष 1968 के पश्चात् लोक प्रशासन के अध्ययन-क्षेत्र में नवीन विचारों का प्रादुर्भाव हुआ और इन विचारों को 'नवीन लोक प्रशासन' की संज्ञा प्रदान की गई। वर्ष 1967 में सार्वजनिक सेवाओं संबंधी उच्च शिक्षा पर 'हनी प्रतिवेदन' के प्रकाशन के साथ ही नवीन लोक प्रशासन को मान्यता प्राप्त हुई। नवीन लोक प्रशासन के विकास में हनी प्रतिवेदन-1967, सिद्धांत एवं व्यवहार सम्मेलन-1967 और मिन्नोब्रुक सम्मेलन-1968 का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

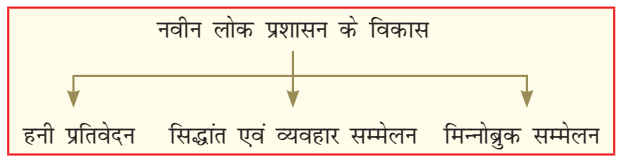

हनी प्रतिवेदन, 1967

जान सी. हनी सिराक्यूज विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं। प्रोफेसर हनी को 'लोक प्रशासन की अमेरिकी सोसाइटी' ने लोक प्रशासन के स्वायत्त विषय के रूप में अध्ययन की संभावनाओं पर एक प्रतिवेदन प्रस्तुत करने को कहा। प्रतिवेदन के मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं-

- लोक प्रशासन के क्षेत्र को व्यापक बनाया जाए।
- लोक सेवा शिक्षा संबंधी राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की जाए।
- लोक प्रशासन के अंतर्गत शासकीय प्रक्रिया-कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका को शामिल किया जाए।
- उन सभी अध्ययनकर्त्ताओं को जो लोक सेवा को आजीविका बनना चाहते हैं, उन्हें छात्रवृत्ति प्रदान की जाए।
- शासकीय एवं सार्वजनिक मामलों संबंधी शोधकार्य में लगे हुए व्यक्तियों को आर्थिक एवं गैर-आर्थिक सहायता प्रदान की जाए।

36 लोक प्रशासन के सिद्धांत (Theories of Public Administration)

लोक प्रशासन के समग्र अध्ययन के लिये लोक प्रशासन के सिद्धांत को समझना आवश्यक हो जाता है। सिद्धांतों की व्याख्या विचारधाराओं की अभिव्यक्ति से होती है। अनेक सिद्धांतों, उपागमों और विचारधाराओं का संबंध संगठन की संरचना एवं उसके विभिन्न कार्यों से होता है जिसको अनेक प्रकार से अधिकारियों एवं कर्मचारियों के द्वारा क्रियान्वित किया जाता है। इन सिद्धांतों में विचारकों एवं विद्वानों के अनुभवों और प्रशासनिक वातावरण के निरीक्षण एवं पर्वेक्षण से विश्लेषणात्मक जानकारी प्राप्त की जाती है। लोक प्रशासन के सिद्धांत में शास्त्रीय सिद्धांत (फेयोल, गुलिक, उर्विक), वैज्ञानिक प्रबंधन सिद्धांत (टेलर), नौकरशाही सिद्धांत (वेबर), मानव संबंध सिद्धांत (एल्टन मेयो) और व्यवस्था दृष्टिकोण (बर्नार्ड) का अध्ययन किया जाएगा।

शास्त्रीय सिद्धांत (फेयोल, गुलिक, उर्विक)
Classical Theory (Fayol, Gullick, Urwick)

शास्त्रीय सिद्धांत *(Classical Theory)*

संगठन संबंधी सर्वाधिक प्राचीन विचारधाराओं को ही शास्त्रीय सिद्धांत या विचारधारा कहते हैं। इसे 'यांत्रिक दृष्टिकोण' भी कहा जाता है। यह संगठन का पुराना दृष्टिकोण है, इसलिये इसे परंपरागत दृष्टिकोण या आधारित सिद्धांत भी कहा जाता है। इस विचारधारा के प्रबल समर्थकों में हेनरी फेयोल, उर्विक, फॉलेट, लूथर गुलिक आदि हैं। शास्त्रीय विचारकों ने गंभीरतापूर्वक उन आधारों की खोज का प्रयत्न किया है, जिनके अनुसार संगठन में कार्य-विभाजन, कार्यों का समन्वय, इनकी सुव्यवस्थित परिभाषा, कर्मचारियों पर नियंत्रण आदि के संदर्भ में अपने विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस विचारधारा के समर्थकों का मानना है कि संगठन के किसी कार्य को संपादित करने से पूर्व उसके कार्यों की रूपरेखा या ढाँचा तैयार कर लेना चाहिये।

शास्त्रीय सिद्धांत के विचारक यह मानते हैं कि सभी प्रशासन एक जैसे होते हैं। निजी प्रशासन एवं लोक प्रशासन में कोई भेद नहीं है, क्योंकि सभी प्रशासनिक संगठनों में एक समान तकनीकों एवं सिद्धांतों की आवश्यकता होती है। इस अवधारणा का मुख्य लक्षण है- अवैयक्तिकता, कार्य-विभाजन, पदसोपान एवं दक्षता। यह अवधारणा दो मुख्य विश्वासों पर आधारित है-

(i) संगठन की योजना का निर्माण इसके उद्देश्यों एवं कार्यों के अनुरूप किया जाता है, जो निश्चित सिद्धांतों पर आधारित होते हैं।

(ii) संगठन की योजना को मूर्तरूप देने के लिये कार्मिकों की आवश्यकता होती है। अर्थात् मनुष्य संगठन के पुर्ज़े हैं।

डिमॉक एवं डिमॉक के शब्दों में, "यह उपागम अभियांत्रिकी प्रणालियों से प्रभावित है। जिस प्रकार एक इंजीनियर, सदैव तार्किक संरचना तथा सुनिश्चितता के लिये प्रयत्नशील रहता है और प्रत्येक कार्य को करने के सर्वश्रेष्ठ तरीकों और विभिन्न अंगों के संबंध में उसका प्रभाव स्पष्ट रहता है, उसी प्रकार संगठन में सिद्धांतों, कार्मिकों एवं संरचना के समन्वय से कुशलता प्राप्त होती है।"

शास्त्रीय सिद्धांत की विशेषताएँ या मान्यताएँ

- इस उपागमन के समर्थक संगठन की संरचना पर सर्वाधिक बल देते हैं। इनकी मान्यता है कि संगठन की समस्त समस्याएँ इसकी संरचना में जन्म लेती हैं। अत: वैज्ञानिक आधार पर संगठन की संरचना होनी चाहिये।
- निश्चित सिद्धांतों को अपनाकर किसी भी संगठन में अधिकतम कुशलता एवं मितव्ययिता का स्तर पाया जा सकता है। यह उपागम प्रशासन को एक तकनीकी समस्या मानकर अपना पूरा फोकस कुशलता पर केन्द्रित करता है।
- यांत्रिक सिद्धांत की यह मान्यता है कि संगठन की कतिपय निश्चित सिद्धांत होते हैं। इस उपागम के समर्थक विद्वानों ने संगठन के सिद्धांतों को विकसित करने में सर्वाधिक रुचि ली है।
- यह सिद्धांत संगठन में कार्यरत कार्मिकों तथा उनके उत्तरदायित्वों को पृथक् रूप से आंकता है।
- समर्थक विचारकों का मानना है कि लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में कोई भेद नहीं है, बल्कि सभी प्रशासन एक जैसे होते हैं। अत: सरकारी या गैर-सरकारी प्रशासन का भेद अवास्तविक है बल्कि मूल समस्या तो सभी संगठनों में कुशलता प्राप्त करना है।
- संगठन एवं इसकी विभिन्न इकाइयों के बीच अधिकतम समन्वय स्थापित करना।
- इसकी मान्यता है कि कानून, नियम, प्रक्रिया, ढाँचा एवं नियंत्रण प्रणाली ही प्रशासन में निर्णायक भूमिका निभाते हैं।
- इस उपागम की यह विशिष्ट मान्यता है कि प्रत्येक प्रशासनिक संगठन एक औपचारिक ढाँचा है जो पूर्व निर्धारित नियमों, सिद्धांतों, कानूनों, कार्य-प्रक्रियाओं के अनुसार संचालित होता है तथा प्रशासनिक संरचना एवं इसके अन्य अंग चार्ट एवं नियमावली के द्वारा स्पष्ट किये जा सकते हैं।
- यह उपागम संगठन के कार्यकरण, संरचना तथा सिद्धांतों के बाह्य वातावरण एवं आंतरिक स्तर पर मानवीय व्यवहार से पृथक् माना जाता है।

शास्त्रीय सिद्धांत का योगदान

- संगठन के शास्त्रीय सिद्धांत ने अध्ययन एवं व्यवहार के रूप में प्रशासनिक संगठनों की पृथक् से पहचान स्थापित करवाई है। इस सिद्धांत ने प्रबंध और संगठन की समस्याओं के विषय में विद्वानों को सोचने एवं विश्लेषण करने का अवसर दिया है।

37 प्रशासनिक अवधारणाएँ (Administrative Concepts)

आधुनिक राज्य के स्वरूप एवं दायित्वों में आए परिवर्तनों ने प्रशासनिक अवधारणाओं को अनिवार्य सिद्ध कर दिया है। वर्तमान समय में व्यक्तियों की प्रत्येक गतिविधि प्रशासनिक एजेंसियों द्वारा निर्देशित एवं नियंत्रित होती है। समाज में बढ़ती हुई जटिलताओं, राज्य के बढ़ते हुए दायित्वों और प्रशासनिक पद्धतियों में आए बदलावों के मध्य प्रशासनिक अवधारणाओं का महत्त्व भी अत्यधिक बढ़ गया है। सामयिक परिस्थितियों में सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था के बिना प्रगति संभव नहीं है इसलिये प्रशासनिक व्यवस्था में शक्ति, वैधता, सत्ता एवं उत्तरदायित्व जैसी प्रशासनिक अवधारणाओं का महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है।

शक्ति की अवधारणा (Concept of Power)

शक्ति शब्द जिसे अंग्रेज़ी में पावर (Power) कहते हैं, लैटिन भाषा के 'Potere' शब्द से निकला है जिसका अर्थ है- योग्य के लिये। शक्ति उस विशेष स्थिति की द्योतक है जिसमें कोई व्यक्ति सामाजिक विरोध की स्थिति में भी अपनी इच्छा एवं आदेशों का अनुपालन करवाने में सफल हो जाता है। शक्ति की अवधारणा सकारात्मक और नकारात्मक दोनों हो सकती है। यदि शक्ति में वैधता जुड़ जाए तो यह सकारात्मक रूप में उभरती है अन्यथा शक्ति दिशाहीन हो जाती है जो विनाशकारी भी हो सकती है। शक्ति व्यक्ति की योग्यता पर निर्भर करती है। यह एक नकारात्मक संकल्पना भी मानी जाती है, क्योंकि इसमें बल प्रयोग का तत्त्व संभावित रहता है। शक्ति का दीर्घकालीन अस्तित्व सत्ता पर निर्भर करता है।

आर्गेंसकी के अनुसार, "शक्ति अन्य व्यक्तियों को अपने लक्ष्यों के अनुरूप प्रभावित करने की क्षमता है। शक्ति एक सापेक्ष शब्द है, यथा- राजनीतिक शक्ति, आर्थिक शक्ति, सामाजिक शक्ति आदि।"

वेबर के अनुसार, "शक्ति आरोपण की अभिव्यक्ति है, यह आरोपण बाध्यकारी रूप में होता है।"

शक्ति की विशेषताएँ *(Features of Power)*

- शक्ति कार्य करवाने की भावना पर आधारित होती है।
- शक्ति योग्यता को प्रदर्शित करती है।
- इसमें बल प्रयोग से संबद्ध तत्त्व की मौजूदगी की संभावना रहती है।
- शक्ति अस्थायी एवं वैयक्तिक होती है।
- शक्ति बाध्यकारी स्थिति होती है।
- शक्ति के महत्त्वपूर्ण घटक हैं- प्रभाव, बाध्यता और अपने हित को किसी भी प्रकार साधना।
- शक्ति नियंत्रण को जन्म देती है, जैसे- दूसरों पर नियंत्रण, तथ्यों या वस्तुओं पर नियंत्रण।

शक्ति एवं प्राधिकार में संबंध

प्राधिकार/सत्ता शक्ति का वह प्रयोग है, जिसे वैध माना जाता है जबकि शक्ति दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता को कहा जाता है। वैधता शक्ति का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों के पास अलग-अलग स्रोतों (कानून, परंपरा, प्रत्यायोजन, धर्म आदि) से आ सकती है। जो वैध शक्ति का प्रयोग कर रहा है, उसे जन स्वीकृति भी प्राप्त रहेगी।

शक्ति के प्रकार *(Types of Power)*

- **वैधपूर्ण शक्ति:** वैधपूर्ण शक्ति किसी व्यक्ति की वह शक्ति है, जो उसे कुछ दायित्वों को पूर्ण करने या निभाने के बदले में प्राप्त होती है। इस प्रकार की शक्ति सत्ता के रूप में एक व्यक्ति को उसके स्तर के परिणामस्वरूप प्राप्त होती है।
- **सुविज्ञ शक्ति:** सुविज्ञ शक्ति किसी व्यक्ति को प्राप्त वह शक्ति है जो उसे उसकी निपुणता या कौशल के परिणामस्वरूप प्राप्त होती है। एक व्यक्ति अपनी योग्यता, बुद्धि, प्रतिभा, सुविज्ञता के कारण विशेषज्ञ बन सकता है। सुविज्ञता धारण करने के कारण व्यक्ति को ऐसी शक्ति प्राप्त होती है।
- **निर्देश्य शक्ति:** निर्देश्य शक्ति किसी व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करने एवं निष्ठा बनाने से उत्पन्न होती है। यह शक्ति उस शक्ति प्राप्तकर्त्ता के पास उसकी निपुणता या कौशल के परिणामस्वरूप आती है, जैसे- करिश्माई व्यक्तित्व के कारण सहज ही लोग किसी व्यक्ति का नेतृत्व स्वीकार कर लेते हैं। महात्मा गांधी, नेल्सन मंडेला, डॉ. बी.आर. अंबेडकर, लेनिन आदि ऐसे ही व्यक्तित्व थे।
- **पारितोषिक शक्ति:** पारितोषिक शक्ति वह शक्ति है जो किसी व्यक्ति को पुरस्कारस्वरूप कुछेक सुविधाएँ दिये जाने के बदले प्राप्त होती है। इस शक्ति के अस्तित्व में लोग ऐसी शक्ति रखने वाले व्यक्ति की आज्ञा का पालन इसलिये करते हैं कि उन्हें इसके बदले कुछ प्राप्त होगा या कुछ छीन लिया जाएगा, जो उसे मिलने वाला है।
- **अवपीड़क शक्ति:** अवपीड़क शक्ति एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को किसी चीज़ के लिये वंचित करता है या उस चीज़ को उससे छीनता है। ऐसी शक्ति एक प्रकार से दंडित करने की शक्ति कहलाती है।

वैधता की अवधारणा (Concept of Legitimacy)

सामान्य शब्दों में कहा जाए तो वैधता कानून के अनुरूप होने की स्थिति है। वैधता बल को शक्ति एवं शक्ति को सत्ता बनाती है। वैधता लैटिन शब्द लेजीटीमेयर (Legitimare) से बना है जिसका अर्थ है वैधपूर्ण घोषित करना। इस लेजीटीमेयर शब्द से लेजीटीमेसी शब्द विकसित हुआ, जिसे वैधपूर्ण कहा गया। वैधता के परिणामस्वरूप शक्ति सत्ता में परिवर्तित

38 संगठन एवं उनके सिद्धांत
(Organisations and their Principles)

व्यक्तियों का एक ऐसा समूह संगठन कहलाता है जिसके अंतर्गत बिखरी हुई शक्तियों को एकीकरण करने का प्रयास किया जाता है। संगठन आज मनुष्य की हर गतिविधियों के साथ जुड़ा हुआ है। इसके व्यवस्थित कार्यकरण के लिये कुछ निश्चित नियमों, प्रक्रियाओं एवं सर्वस्वीकृत आधारशिलाओं की आवश्यकता होती है जिसके अभाव में संगठन दिशाहीन एवं अवरुद्ध हो जाता है। संगठन की अवधारणा के विकास के साथ ही इसके अनेक सर्वमान्य सिद्धांतों (जैसे- पदसोपान, प्रत्यायोजन, आदेश की एकता, नियंत्रण के क्षेत्र, केन्द्रीकरण एवं विकेंद्रीकरण, समन्वय, पर्यवेक्षण) को भी खोज निकाला गया तथा ये सिद्धांत आचरण के ऐसे कार्य नियम होते हैं जो विस्तृत अनुभव के कारण सर्वस्वीकृत होते हैं।

संगठन: अर्थ एवं विशेषताएँ (Organisation: Meaning and Features)

सामान्य बोलचाल की भाषा में संगठन का अर्थ होता है- कार्य को योजनाबद्ध रूप में संपन्न करना। अर्थात् किसी कार्य को योजनाबद्ध रूप से सम्पादित करना ही संगठन कहलाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि श्रम, आवश्यकताएँ, प्रबंध के मध्य प्रभावपूर्ण सहकारिता स्थापित करने की कला को ही संगठन कहते हैं। **ऑक्सफोर्ड शब्दकोश** के अनुसार, संगठन शब्द से तात्पर्य है- किसी वस्तु का व्यवस्थित ढाँचा बनाना, किसी वस्तु का आकार निश्चित करना एवं उसको कार्य करने की स्थिति में लाना। संगठन में तीन तत्त्व निहित होते हैं- इसमें कार्य निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया जाता है, इसमें सहयोग की भावना होती है तथा इसमें अनेक व्यक्तियों द्वारा कार्य किया जाता है। अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न अर्थों में संगठन को परिभाषित किया है जो निम्नलिखित हैं-

- **एल.डी. व्हाइट के अनुसार,** "संगठन का अर्थ कर्मचारियों की उस अवस्था से है, जो निश्चित किये हुए विषयों की प्राप्ति के लिये कार्यों एवं उत्तरदायित्वों को विभाजित करके स्थापित की जाती है।"
- **ग्लैडन के अनुसार,** "संगठन से तात्पर्य है किसी उद्यम में लगे हुए व्यक्तियों के परस्पर संबंधों की ऐसी प्रतिकृति बनाना जो उद्यम के कार्यों को पूरा कर सके।"

संगठन की विशेषताएँ *(Features of Organisation)*

- संगठन विभिन्न व्यक्तियों का समूह होता है, यह समूह छोटा एवं बड़ा हो सकता है।
- यह समूह के उत्तरदायित्वों तथा कर्त्तव्यों के स्वरूप को स्थापित करता है।
- यह कार्यकारी नेतृत्व के निर्देशन में संगठित होकर कार्य करता है।
- इसके अभाव में प्रबंध अपना कार्य व्यवस्थित ढंग से नहीं कर सकता है क्योंकि यह संगठन प्रबंध का एक यंत्र होता है।
- यह एक क्रियात्मक अवधारणा है जहाँ अनेक लक्ष्य निर्धारित करके उन्हें क्रियान्वित किया जाता है।
- इसमें अधिकार एवं दायित्वों के विभाजन तथा श्रम-विभाजन आदि का नियोजन किया जाता है।
- व्यक्तियों के मध्य औपचारिक संबंधों का निर्माण संगठन के माध्यम से होता है।
- संगठन औपचारिक संबंधों के निर्धारित लक्ष्यों को पूरा करने में सहायक होता है।
- संगठन में आड़े-तिरछे, समस्तरीय तथा ऊपर-नीचे संबंधों का निर्माण होता है। इसमें आदेश एवं अनुपालन के आधार भी तैयार होते हैं।
- संगठन में निरंतर संदेशों का आदान-प्रदान होता रहता है।

संगठन के प्रकार (Types of Organisation)

संगठन से संबंधित विद्वान संगठन के दो प्रकार मानते हैं- औपचारिक संगठन एवं अनौपचारिक संगठन।

औपचारिक संगठन *(Formal Organisation)*

औपचारिक संगठन ऐसे संगठन होते हैं जिसमें अधिकार एवं उत्तरदायित्व तथा प्रत्येक स्तर पर स्थिति स्पष्ट रूप से परिभाषित होती है। इन संगठनों में अधिकार उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर प्रत्यायोजित होते हैं और संस्था/संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये पूरी संगठन संरचना प्रयत्न करती है। संगठन के औपचारिक स्वरूप को अनेक नामों से जाना जाता है, जैसे- नौकरशाही संगठन, यांत्रिक संगठन, परंपरागत संगठन, पद सोपानीय संगठन तथा शास्त्रीय संगठन आदि। औपचारिक संगठनों के समर्थकों में उर्विक, लूथर गुलिक, मूने, हेनरी फेयोल, फ्रेडरिक टेलर तथा मैक्स वेबर आदि हैं।

बर्नार्ड के अनुसार, "जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों की क्रियाएँ एक दिये हुए उद्देश्य की तरफ जान-बूझकर समन्वित की जाती हैं, तो उसे औपचारिक संगठन कहते हैं।"

औपचारिक संगठन की विशेषताएँ

- ये पूर्णत: निर्वैयक्तिक होते हैं।
- ये अधिकारों के प्रत्यायोजन सिद्धांत पर आधारित होते हैं।
- इन संगठनों में कार्य करने के सही तरीकों अर्थात् साधनों पर बल दिया जाता है।
- इनमें कार्य विभाजन (कार्य विशेषीकरण) पर बल दिया जाता है।
- संगठन के ऊपरी अधिकारियों द्वारा ही इसके आंतरिक विभागों का निर्णय किया जाता है।
- ये स्थायी संगठन होते हैं।
- इन संगठनों में 'आदेश की एकता' का पालन किया जाता है।

39 प्रबंधन एवं नवीन लोक प्रबंधन
(Management and New Public Management)

प्रबंध की अवधारणा बहुत पुरानी है, क्योंकि प्राचीन काल में भी प्रबंध के संबंध में विद्वान एवं विचारक अपना मत व्यक्त करते रहे। उनके अनुसार प्रशासनिक प्रबंध का सिद्धांत, मानव संगठन के कुशल संचालन एवं राज्य के प्रशासनिक कार्यों के लिये उचित होता है। अंततोगत्वा मानव सभ्यता में निरंतरता एवं परिवर्तन के साथ-साथ प्रबंध की अवधारणा बदलती रही। आधुनिक प्रबंध के रूप में विकसित अवधारणा आज के विकासशील युग में प्रचलित हो रही है।

प्रबंधन : अर्थ, विशेषताएँ, प्रकृति एवं महत्त्व (Management : Meaning, Features, Nature and Importance)

प्रबंधन वह प्रक्रिया होती है जिसमें प्रशासन के समस्त क्रियाओं का समायोजन, नियोजन एवं विश्लेषण किया जाता है। किसी संगठन की सफलता और असफलता प्रबंध पर निर्भर करती है। एक प्रबंधक संगठन में नेतृत्वकर्त्ता की भूमिका निभाता है। वह संगठन में नीति निर्माण, निर्णय निर्माण, समन्वय इत्यादि क्रियाएँ करता है।

अर्थ *(Meaning)*

थियो हेमन ने प्रबंधन के तीन अर्थ बताए हैं- पहला, प्रबंधन से आशय प्रबंधन आधिकारियों के उस कार्य से होता है जिसके तहत संबंधित संगठन में कार्य करने वाले लोगों के कार्यों पर नियंत्रण स्थापित किया जाता है दूसरा, प्रबंधन से तात्पर्य ऐसे विज्ञान से है जिसमें व्यवसाय संबंधी नियोजन, संगठन, संचालन, समन्वय, प्रेरणा और नियंत्रण के सिद्धांतों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाता है और तीसरा, प्रबंधक से आशय ऐसी प्रक्रिया से है जिसके अंतर्गत अन्य लोगों के साथ मिलकर कार्य करने पर बल दिया जाता है।

इसके अलावा विभिन्न विद्वानों का मत निम्नवत् है-

पीटर एफ. ड्रकर के शब्दों में, "प्रबंधन प्रत्येक व्यवसाय का गत्यात्मक और जीवन प्रदायनी अवयव है। इसके नेतृत्व के अभाव में उत्पत्ति के साधन केवल साधन मात्र रह जाते हैं, कभी भी उत्पादन नहीं बन पाते हैं।"

हेनरी फेयोल के अनुसार, "प्रबंधन करने से आशय पूर्वानुमान लगाना एवं योजना बनाना, संगठित करना, निदेशन देना, समन्वय करना एवं नियंत्रण करना है।"

विशेषताएँ *(Features)*

- प्रबंधन एक सामाजिक प्रक्रिया है, जो आम आदमी से संबंधित होती है।
- प्रबंधन एक ऐसी क्रिया है, जो मनुष्य द्वारा संपन्न की जाती है। यह एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया है।
- प्रबंधन में कला और विज्ञान दोनों विशेषताएँ पाई जाती हैं।
- प्रबंधन के अंतर्गत एक व्यक्ति विशेष को महत्त्व न देकर समूह को महत्त्व दिया जाता है।
- इसकी आवश्यकता सभी स्तरों पर होती है, जैसे- उच्चस्तरीय, मध्यस्तरीय और निम्नस्तरीय।
- प्रबंधन एक पेशा है, क्योंकि इसका भी स्वंय का सिद्धांत, नीतियाँ एवं नियम होता है। इस ज्ञान का प्रयोग प्रबंधक संगठन के उद्देश्यों के प्राप्ति के लिये करता है।
- प्रबंधकीय सिद्धांत एवं कार्य सभी प्रकार के संगठनों में समान रूप से लागू होते हैं।
- प्रबंधन पारिस्थितिक होता है यह आतंरिक तथा बाध्य दोनों ही वातावरण से प्रभावित होता है।
- प्रबंधन के माध्यम से संगठन के प्रयासों के परिणाम, व्यवस्था, अनुशासन एवं उत्पादन को संपन्न किया जाता है।
- प्रबंधन प्रक्रिया को संपन्न करने के लिये विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है। तकनीकी दृष्टि से निपुण एवं अनुभवी व्यक्ति ही किसी संगठन के व्यवस्था का संचालन कर सकता है।

प्रकृति *(Nature)*

कला के रूप में

कला से तात्पर्य किसी भी कार्य को सर्वोत्तम ढंग से करने की एक विधि है जिससे उद्देश्यों को कुशलतापूर्वक प्राप्त किया जा सके। थियो हैमन का कहना है कि कला कार्य करने का एक ढंग है और व्यवहार करने की विधि है। निम्नलिखित बिंदुओं से इसको समझ सकते हैं-

- **व्यक्तिगत योग्यता का होना:** संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति में प्रबंधक के व्यक्तिगत गुण जैसे- आत्मविश्वास, रचनात्मकता, दूरदर्शिता, आशावादिता, गतिशीलता, नेतृत्व और निर्णय क्षमता आदि अत्यंत सहायक होते हैं।
- **ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग होना:** प्रबंधन द्वारा संगठन की समस्याओं को हल करने के लिये अपने प्रबंधकीय ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग किया जाता है।
- **हस्तांतरण संभव नहीं है:** प्रबंधन कला का हस्तांतरण संभव नहीं है क्योंकि यह व्यक्तिपरक होती है। प्रत्येक प्रबंधक इसे अपने प्रयासों से विकसित करता है।
- **सफलता का आधार:** प्रबंधन कला की सफलता का आधार प्रबंधक का निजी चातुर्य, ज्ञान एवं अनुभव होता है।
- **संयोगिक दृष्टिकोण:** प्रबंधन की शैली एवं तकनीकी परिस्थितियों के अनुरूप बदलती रहती है। प्रबंधन का दृष्टिकोण एवं विधि सदैव समस्या के अनुसार ही होती है।

40 विकास प्रशासन एवं तुलनात्मक लोक प्रशासन
(Development Administration and Comparative Public Administration)

विकास प्रशासन की अवधारणा आधुनिक लोक प्रशासन की परिचायक है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् नवस्वतंत्र राज्यों (खासकर एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका) के उदय होने से इसके क्षेत्र एवं दायित्व का विस्तार हुआ। इसके दायित्व के अंतर्गत राष्ट्रनिर्माण, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं जन सहायता के कार्यों को प्रमुखता दी गई है, जिससे प्रशासन एवं नागरिकों के मध्य की दूरी कम होने लगी है। साथ ही नवस्वतंत्र राष्ट्रों के प्रशासनिक ढाँचा में सुधारों के लिये विकसित देशों के प्रशासन से तुलनात्मक अध्ययन किया जाने लगा और इसका सर्वाधिक श्रेय रिग्स को जाता है।

विकास प्रशासन (Development Administration)

'विकास प्रशासन' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग यू.एल. गोस्वामी ने किया। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग अपने एक लेख 'दि स्ट्रक्चर ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया' में किया था। इस शब्द की विस्तृत व्याख्या करने का श्रेय अमेरिकी विद्वानों को जाता है। विकासशील राष्ट्रों में प्रशासनिक प्रवृत्तियों के परीक्षण के लिये 'अमेरिकन सोसायटी फॉर पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' के अंतर्गत एक तुलनात्मक प्रशासनिक समूह का गठन किया गया। इस समूह ने तीसरी दुनिया के विकासशील राष्ट्रों को विकास प्रशासन के क्षेत्र में अनुसंधान के लिये अपना अध्ययन बिंदु बनाया, साथ ही इन राष्ट्रों की प्रशासनिक समस्याओं (सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के संदर्भ में) के अध्ययन पर अपना ध्यान केंद्रित किया। समूह का अध्यक्ष फ्रेड डब्ल्यू. रिग्स को बनाया गया जिन्होंने अपने प्रयास से विकास प्रशासन को अध्ययन विषय के रूप में स्थापित किया। विकास प्रशासन के प्रतिपादकों में जॉर्ज ग्रांट (अग्रणी), वाईडनर, हैडी, रिग्स, पाइ पानिंदीकर तथा मॉण्टगोमेरी आदि हैं।

विकास प्रशासन का अर्थ
(Meaning of Development Administration)

विकास या विकासात्मक प्रशासन का अर्थ है- विकास से संबंधित प्रशासन। यह एक विशेष प्रकार के उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक उन्नयन की भावना, एक विशेष कार्यक्रम तथा एक विशेष विचारधारा है। इसके साथ ही विकास प्रशासन को परिवर्तन के उस पक्ष के रूप में भी देखा जाता है जो नियोजित एवं अभीष्ट हो तथा प्रशासकीय कार्यों से निर्देशित हो। विकास प्रशासन में जनता की सेवा के लिये विकास संबंधी कार्यों को संपन्न किया जाता है। यह प्रशासन के स्थूल रूप से उतना संबंधित नहीं है जितना कि उसकी प्रकृति, अभिव्यक्ति, व्यवहार, दृष्टिकोण आदि से। अनेक विद्वानों ने विकास प्रशासन को अपने-अपने तरीकों से परिभाषित किया है, जो निम्नलिखित हैं-

- **मॉण्टगोमेरी के अनुसार:** "विकास सामान्यत: परिवर्तन के ऐसे सामान्य भाग को समझा गया है जो स्थूल रूप से पूर्व-निर्धारित या योजनाबद्ध एवं प्रशासित किया गया हो या कम-से-कम सरकारी क्रिया द्वारा प्रभावित हो।" इसी से उन्होंने विकास प्रशासन को बहुत सीमित क्षेत्र में रखते हुए कहा है कि "विकास प्रशासन अर्थव्यवस्था में योजनाबद्ध परिवर्तन लाता है (कृषि या उद्योग में या इन दोनों में से किसी के सहयोग के लिये पूंजीगत आधार संरचना में) और कुछ कम सीमा तक राज्यों की सामाजिक सेवाओं में (विशेषकर शिक्षा व जन स्वास्थ्य के क्षेत्र में)। यह सामान्यत: राजनीतिक क्षमताओं को बढ़ाने के प्रयत्नों से संबद्ध नहीं है।"
- **फ्रेड रिग्स के मतानुसार:** "विकास प्रशासन उन कार्यक्रमों और परियोजनाओं को पूरा करने के संगठित प्रयासों से संबंधित है, जो विकास के उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न व्यक्तियों द्वारा प्रवर्तित किये जाते हैं।"
- **प्रो. वाईडनर के अनुसार:** "विकास प्रशासन प्रगतिशील, राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक उद्देश्यों के चुनने तथा पूरा करने का साधन है जिसमें ये उद्देश्य आधिकारिक रूप से एक या दूसरे प्रकार से निश्चित किये जाते हैं।"

विकास प्रशासन की विशेषताएँ
(Features of Development Administration)

विकास प्रशासन सरकार का कार्यात्मक पहलू है जो लक्ष्योन्मुखी होता है अर्थात् विकास प्रशासन केवल जनता के लिये प्रशासन नहीं है, अपितु यह जनता के साथ कार्य करने वाला प्रशासन है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

- **परिवर्तनशीलता:** विकास प्रशासन परिवर्तन-उन्मुखी प्रशासन है। परिवर्तन से तात्पर्य है कि किसी भी व्यवस्था का एक स्थिति से दूसरी स्थिति की ओर गतिमान होना। अपनी इसी परिवर्तनशीलता की विशेषता के कारण विकास प्रशासन सदैव सक्रिय एवं गतिमान बना रहता है। इसे विकासशील देशों में अधिकाधिक रूप से देखा जा सकता है क्योंकि इन देशों में प्रशासन को निरंतर परिवर्तनों के दौर से गुज़रना पड़ता है।
- **लक्ष्योन्मुखी प्रशासन:** वाईडनर के अनुसार: "विकास प्रशासन **लक्ष्य-अभिमुखी** प्रशासन है। ये सभी लक्ष्य स्वभावत: आगे ले जाने वाले तथा प्रगतिशील होते हैं।"
- **नवाचार:** विविध प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिये विकास प्रशासन नए कार्यक्रमों, ढाँचों एवं पद्धतियों पर बल देता है। भारत में सी.ए.डी, डी.आर.डी.ए. आदि कार्यक्रम इन नवाचारों के उदाहरण हैं।
- **नियोजन का महत्त्व:** अधिकांश विकासशील देशों ने नियोजन को सामाजिक-आर्थिक विकास की रणनीति के रूप में अपनाया है। क्योंकि, नियोजन एक निश्चित अवधि में कुछ सुनिश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये समय तथा विकास की संपूर्ण प्रक्रिया को प्रभावी बनाने वाले साधनों के अधिकतम उपयोग में सहायक होता है।

41 भारत में प्रशासन पर नियंत्रण
(Control Over Administration in India)

आधुनिक युग में प्रशासन हमारे जीवन से अटूट रूप से जुड़ा हुआ है। आज हमारे जीवन का हर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक; कुछ भी प्रशासन से परे की बात नहीं रही है। साथ ही जब से राज्य ने लोक-कल्याणकारी राज्य का रूप धारण किया है तब से प्रशासन का क्षेत्र और भी विशाल हो गया है। ऐसी स्थिति में प्रशासन की इन शक्तियों पर नियंत्रण रखने की आवश्यकता है। **प्रो. व्हाइट** के शब्दों में- "लोकतांत्रिक समाज में शक्ति पर नियंत्रण आवश्यक है। शक्ति जितनी अधिक है, नियंत्रण की भी उतनी ही अधिक आवश्यकता है।" स्पष्ट प्रयोजनों के लिये पर्याप्त अधिकार किस प्रकार निहित किये जाएँ तथा सत्ता को पंगु बनाए बिना किस प्रकार समुचित नियंत्रण स्थापित किया जाए, यह लोकप्रिय सरकार के समक्ष एक ऐतिहासिक उलझन का विषय है। अत: प्रशासन पर प्रभावशाली नियंत्रण की आवश्यकता स्पष्ट है,जिसके लिये प्रशासन पर निम्नलिखित नियंत्रणों की व्यवस्था की गई है-

विधायी/संसदीय नियंत्रण (Legislative Control)

संसदीय शासन व्यवस्था में संसद सैद्धांतिक रूप से संघ प्रशासन पर पूरा नियंत्रण रखती है। प्रशासन संविधान के अधीन एवं संसद द्वारा निर्मित विधि (कानूनों) के अनुसार ही चलाया जाता है। संविधान द्वारा निर्धारित सीमाओं के अंतर्गत ही संसद प्रशासन के उद्देश्यों को इंगित करती है। संसदीय नियंत्रण के अभाव में प्रशासकीय क्रियाओं में उचित समन्वय कर पाना संभव नहीं है। नौकरशाही के दोषपूर्ण हो जाने पर सामान्य जनता को अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ता है। प्रशासन की असफलता, अकार्यकुशलता, कमियों तथा अनियमितता का आरोप अंततोगत्वा मंत्री अथवा मंत्रिपरिषद के ऊपर ही आता है। संसद निम्नलिखित तरीकों से प्रशासन पर नियंत्रण रखती है-

- **प्रश्न पूछकर (By asking questions):** संसद के प्रत्येक सदस्य को प्रशासन से संबंधित किसी भी विषय पर प्रश्न पूछने का अधिकार है। प्रश्नों की अग्रिम सूचना संसदीय सचिव को दी जाती है। नियमानुसार अध्यक्ष प्रश्नों को उत्तर देने के लिये स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। ये प्रश्न सरकार के प्रशासकीय दायित्वों से संबंधित होते हैं। न्यायालय में विचाराधीन मामलों पर प्रश्न नहीं पूछे जा सकते हैं। संसद में पूछे जाने वाले प्रश्नों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

प्रश्न के प्रकार	
तारांकित प्रश्न (Starred Questions)	**अतारांकित प्रश्न (Unstarred Questions)**
ये ऐसे प्रश्न होते हैं, जिनका उत्तर प्रश्नोत्तर काल में मंत्री मौखिक रूप से देते हैं एवं इनके संबंध में मूल प्रश्नकर्त्ता व अन्य सदस्य पूरक प्रश्न भी पूछ सकते हैं।	इन प्रश्नों के उत्तर सदन में मौखिक रूप से नहीं दिये जाते हैं एवं इनके संबंध में पूरक प्रश्न भी नहीं पूछे जाते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर सदन की टेबल पर रखवा दिये जाते हैं।

इन प्रश्नों के माध्यम से प्रशासन की अकार्यकुशलता एवं प्रशासकीय अक्षमता को सदन एवं जनसाधारण के सम्मुख लाने का प्रयास किया जाता है। विपक्ष के सदस्य मुख्य रूप से प्रश्न पूछने के अधिकार के माध्यम से प्रशासन की कमियों को उजागर करते हैं एवं प्रशासन से संबंधित सूचना प्राप्त करते हैं।

- **बजट पर वाद-विवाद करना (Debate on budget):** संसद में बजट पारित करने के लिये अलग से सत्र बुलाया जाता है। बजट प्रस्तुतीकरण के पश्चात् फाइनेंस बिल, बजट पर सामान्य वाद-विवाद तथा मंत्रालय विशेष की मांगों आदि पर वाद-विवाद किया जाता है। फाइनेंस बिल पर बहस के समय सदस्य सामान्य रूप से प्रशासन से संबंधित किसी भी मुद्दे को वाद-विवाद के लिये उठा सकते हैं अर्थात् सरकार की किसी भी नीति अथवा प्रशासकीय आदेश का परीक्षण भी कर सकते हैं। मंत्रालय विशेष की मांगों पर वाद-विवाद के समय मंत्रालय की वित्तीय एवं प्रशासकीय नीतियों एवं उनके क्रियान्वयन की आलोचना की जा सकती है।
- **काम रोको प्रस्ताव अथवा स्थगन प्रस्ताव (Adjournment motion):** यदि संसद के अधिवेशन के दौरान कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना घटित हो जाती है, जिसकी ओर सरकार का ध्यान तत्काल ही आकर्षित किया जाना आवश्यक हो तो सदस्य 'काम रोको प्रस्ताव' प्रस्तावित कर सकते हैं। इस प्रकार के प्रस्ताव सदन के निर्धारित कार्यक्रम को स्थगित करके उस महत्त्वपूर्ण घटना पर विचार-विमर्श करने के लिये रखे जाते हैं। यदि सदन 'काम रोको प्रस्ताव' की अनुमति दे देता है तो माना जाता है कि सदन उस समस्या को गंभीर मानता है।
- **राष्ट्रपति के उद्घाटन भाषण पर बहस (Debate on inagural speech of the President):** लोकसभा चुनाव के पश्चात् जब सदन की पहली बैठक होती है, उस समय राष्ट्रपति लोकसभा में अपना अभिभाषण करते हैं। संसदात्मक शासन व्यवस्था में इस प्रकार के अभिभाषण मंत्रिमंडल द्वारा तैयार किये जाते हैं, जिसमें सरकार की नीतियों एवं क्रियाकलापों के विषय में प्रकाश डाला जाता है। राष्ट्रपति के अभिभाषण में वर्णित मुद्दों पर वाद-विवाद किया जाता है। सरकार की नीतियों के पक्ष-विपक्ष में तर्क-वितर्क किये जाते हैं, क्योंकि इन सबकी रिपोर्ट समाचार-पत्रों में प्रकाशित होती है, जिससे जनमत प्रभावित होता है।
- **आधे घंटे की चर्चा (Half an hour discussion):** जिन प्रश्नों का उत्तर सदन में दे दिया गया हो, उन प्रश्नों से उत्पन्न होने वाले मामलों पर चर्चा लोकसभा में सप्ताह में निर्धारित तीन दिन, बैठक के अंतिम आधे घंटे में की जा सकती है। ये विषय पर्याप्त लोक महत्त्व के होने चाहियें एवं इसकी सूचना कम-से-कम तीन दिन पहले दी जानी चाहिये। इस प्रकार के विषयों पर मतदान नहीं होता

42 लोक प्रशासन के अन्य आयाम
(Other Dimensions of Public Administration)

लोक प्रशासन सरकार की नीतियों, कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं के निर्माण में सहायता एवं सलाह और उन्हें परिणित करने का कार्य करती है। लोक प्रशासन के अन्य आयामों में लोक प्रशासन की महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं की चर्चा की गई है जिसमें अभिप्रेरणा, निर्णय निर्माण, सूत्र एवं स्टाफ अभिकरण, संप्रेषण, नेतृत्व और सामान्यज्ञ बनाम विशेषज्ञ सम्मिलित हैं।

अभिप्रेरणा (Motivation)

अभिप्रेरणा (Motivation) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द मोवेरे (Movere) से हुई है जिसका अर्थ है आगे चलना। अभिप्रेरणा व्यक्तियों को अपने व्यक्तिगत और संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु प्रेरित करने की प्रक्रिया है। उत्तम राज्य और समाज की स्थापना से अभिप्रेरित प्रशासन महत्त्वपूर्ण साधन हैं।

राबर्ट डयूबिन के शब्दों में, "अभिप्रेरणा उन शक्तियों का समूह है जो किसी संगठन में एक व्यक्ति को कार्य प्रारंभ करने तथा उन पर बने रहने के लिये प्रेरित करता है।"

प्रो. लोवेल के अनुसार: "अभिप्रेरणा एक ऐसी मनोशारीरिक अथवा आंतरिक प्रक्रिया है, जो किसी आवश्यकता की उपस्थिति में प्रादुर्भूत होती है। यह ऐसी क्रिया की ओर गतिशील होती है, जो आवश्यकता को संतुष्ट करती है।

अभिप्रेरणा की विशेषताएँ *(Features of Motivation)*

अभिप्रेरणा की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

- अभिप्रेरणा एक सतत् एवं गतिशील प्रक्रिया है।
- इसका संबंध मानवीय साधनों से है।
- अभिप्रेरणा का प्रत्येक व्यक्ति के अंदर उदय होता है।
- अभिप्रेरणा मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि है।
- यह मानवीय संतुष्टि का कारण एवं परिणाम दोनों है।

अभिप्रेरणा के उद्देश्य *(Objectives of Motivation)*

- अभिप्रेरणा का उद्देश्य संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति करना है।
- यह कर्मचारियों के मनोबल की स्थापना करती है।
- यह मधुर श्रम संबंधों की स्थापना करती है।
- अभिप्रेरणा के द्वारा कर्मचारियों की कार्य कुशलता में वृद्धि लाना है।

अभिप्रेरणा का महत्त्व *(Importance of Motivation)*

अभिप्रेरणा के महत्त्व निम्नलिखित हैं-

- अभिप्रेरणा निदेशन का मुख्य सार तत्त्व है। इसका सर्वाधिक महत्त्व कार्य की योग्यता को कार्य करने की इच्छा में परिवर्तित करना है अर्थात् कार्य के प्रति रुचि जागृत् करना है।
- अभिप्रेरणा के द्वारा साधनों का अधिकतम उपयोग संभव है।
- अभिप्रेरणा से प्रोत्साहित कर्मचारियों में अनुपस्थिति व काम छोड़कर जाने की प्रवृत्ति में कमी आती है।
- उपक्रम का उद्देश्य कम-से-कम लागत में अधिक-से-अधिक उत्पादन करना होता है, चूँकि उत्पादन पर विक्रय व लाभ निर्भर करता है, अत: श्रेष्ठ व अधिक उत्पादन के लिये आवश्यक है कि कर्मचारियों को अधिक कार्य के लिये अभिप्रेरित किया जाए।

अभिप्रेरणा की विचारधारा *(Ideology of Motivation)*

अभिप्रेरणा की परंपरागत विचारधाराएँ

- **भय व दंड की विचारधारा (Fear and Punishment Ideology):** दंड का भय भी मनुष्य से कार्य करा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति जो पेट की खातिर कार्य करता है, यदि उसको धमकी दी जाए कि वह कार्य न करने या धीमे करने की स्थिति में नौकरी से निकाल दिया जाएगा तब वह व्यक्ति दंड व भय से कार्य करने के लिये प्रेरित हो सकता है। औद्योगिक क्रांति के चरण में इस विचारधारा ने सफलतापूर्वक काम किया, परंतु धीरे-धीरे इसका महत्त्व कम होता गया वर्तमान समय में भय दिखाकर व दंडित करके कार्य कराना अमानवीय समझा जाता है।
- **पुरस्कार का सिद्धांत (Reward Theory):** इस विचारधारा का प्रतिपादन फ्रेडरिक डब्ल्यू. टेलर ने किया। टेलर के अनुसार कार्य का संबंध पारिश्रमिक से जोड़ देने पर कर्मचारी अधिक काम करने के लिये प्रेरित होगा, अर्थात् अधिक पैसा कमाने के लिये वे अधिक कार्य करेंगे।

अभिप्रेरणा की आधुनिक विचारधाराएँ (Modern Theories of Motivation)

हर्ज़बर्ग का अभिप्रेरणा सिद्धांत: हर्ज़बर्ग के अभिप्रेरणा सिद्धांत में दो घटक शामिल हैं-

- **आरोग्य घटक (Hygiene Factor):** वह घटक जिनका संबंध कृत्य के वातावरण या परिस्थितियों से है उन्हें आरोग्य घटक कहा जाता है। हर्ज़बर्ग के अनुसार जब व्यक्ति अपने कृत्य से असंतुष्टि महसूस करता है तो उसका ध्यान उस वातावरण की तरफ अधिक जाता है जिसमें वह कार्य कर रहा है इसमें संस्था की नीतियाँ, प्रशासन, पर्यवेक्षण, कार्य की दशाएँ और कार्य सुरक्षा आते हैं।
- **उत्प्रेरणात्मक घटक (Motivating Factor):** वे घटक जिनका संबंध हृदय की विषय-वस्तु से है। ये व्यक्ति के वे अनुभव हैं जो कृत्य से संतुष्टि प्रदान करते हैं। उनका ध्यान कार्य की तरफ अधिक रहता है। इन उत्प्रेरक तत्त्वों में कर्मचारी की उपलब्धियाँ, मान्यता, उन्नति, उत्तरदायित्व शामिल हैं।

43 राजस्थान में प्रशासनिक ढाँचा एवं संस्कृति तथा ज़िला प्रशासन
(Administrative Structure & Culture and District Administration in Rajasthan)

भारत विविधताओं से परिपूर्ण देश है। यहाँ राज्यों में भाषा, रीति-रिवाज़ एवं संस्कृति संबंधी विविधताएँ पाई जाती हैं। इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान में संघ एवं राज्यों से संबंधित संवैधानिक व्यवस्थाओं में एकरूपता रखने का प्रयास किया गया है। जिस प्रकार संघीय कार्यपालिका राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद (जिसका प्रमुख प्रधानमंत्री होता है) तथा महान्यायवादी से मिलकर बनती है, उसी प्रकार राज्यों में कार्यपालिका राज्यपाल, राज्य मंत्रिपरिषद (जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होता है) तथा महाधिवक्ता से मिलकर बनती है। राज्य कार्यपालिका के संबंध में उपबंध संविधान के **भाग-6 के अनुच्छेद 153 से 167** में दिये गए हैं।

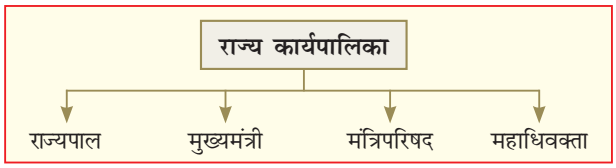

नोट: राजस्थान के प्रशासनिक ढाँचें में शामिल राज्य कार्यपालिका संबंधी टॉपिक का विस्तृत विवरण खंड-A के अध्याय-10 में दिया गया है।

राज्य सचिवालय एवं मुख्य सचिव (State Secretariate and Chief Secretary)

भारत में सचिवालय की व्यवस्था ब्रिटिश शासन तंत्र की विरासत है। आजादी के बाद लोकतांत्रिक शासन प्रणाली की पृष्ठभूमि में राज्य प्रशासन को प्रभावशाली बनाने के रूप में सचिवालयों की स्थापना की आवश्यकता महसूस की गई। सचिवालय के सृजन का मुख्य उद्देश्य राज्य सरकार की नीतियों एवं कार्यों में प्रत्येक संभव सहायता उपलब्ध कराना रहा है। राज्य सचिवालय वह स्थान है जहाँ से शासन व प्रशासन के सत्ता-सूत्रों का संचालन होता है। यह नीति-निर्माता के रूप में राजनीतिक नेतृत्व और नीति-क्रियान्वयन के रूप में लोक सेवकों की कार्यस्थली है। सचिवालय में नीतियाँ तथा कार्यक्रम आकार लेते हैं तथा यहाँ से उनके क्रियान्वयन के लिये आवश्यक निर्देश प्राप्त होते हैं।

गठन *(Composition)*

प्रत्येक राज्य का अपना शासन सचिवालय होता है जो विभिन्न विभागों में बँटा होता है। सचिवालय का सर्वोच्च राजनीतिक अधिकारी मुख्यमंत्री तथा सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी मुख्य सचिव होता है।

प्रत्येक विभाग का राजनीतिक प्रमुख कैबिनेट मंत्री या राज्यमंत्री होता है। राज्यमंत्री कई बार कैबिनेट मंत्री के साथ संबद्ध होते हैं तो कई बार किसी विभाग के स्वतंत्र प्रभारी होते हैं। कुछ विभागों में उपमंत्री भी होते हैं पर उनके पास स्वतंत्र प्रभार नहीं होता है।

मुख्य सचिव जो कि भारतीय प्रशासनिक सेवा का सदस्य होता है, राज्य प्रशासन का मुख्य समन्वयक होता है तथा राज्य के संपूर्ण प्रशासन के लिये उत्तरदायी होता है। वह सभी विभागों पर नज़र रखता है तथा उनकी महत्त्वपूर्ण फाइलें उसके पास आती हैं। वह दो विभागों का सचिव भी होता है– सामान्य प्रशासन विभाग तथा मंत्रिमंडल सचिवालय। विभाग का प्रशासनिक मुखिया प्रमुख शासन सचिव होता है। कभी-कभी एक मंत्री के अधीन एक से अधिक सचिव कार्य करते हैं।

राजस्थान शासन सचिवालय में पदसोपानात्मक व्यवस्था

राजनीतिक नेतृत्व	प्रशासनिक नेतृत्व	
		उपसचिव
मुख्यमंत्री	मुख्य सचिव	सहायक सचिव
कैबिनेट मंत्री	अतिरिक्त मुख्य सचिव	अनुभाग अधिकारी
उपमंत्री	प्रमुख शासन सचिव	वरिष्ठ सहायक
	सचिव	वरिष्ठ लिपिक
	विशिष्ट सचिव	कनिष्ठ लिपिक

शासन सचिवालय : भूमिका और कार्य *(Government Secretariat : Role and Fucnctions)*

राज्य का शासन सचिवालय ही वास्तव में वह यंत्र है जिसकी सहायता से राज्यपाल तथा राजनीतिक कार्यपालिका यानी मंत्रिपरिषद सहित मुख्यमंत्री अपने अधिकारों का प्रयोग करते हैं। सचिवालय का प्रमुख दायित्व मंत्रिपरिषद को नीति-निर्माण में सहायता करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक सूचनाएँ, आँकड़े तथा अन्य सामग्री उपलब्ध कराना है। इसके अतिरिक्त सचिवालय राज्य सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों व कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की भी देखरेख करता है। मुख्य रूप से शासन सचिवालय की भूमिका के विविध आयामों को निम्नलिखित शीर्षकों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है–

- **नीति-निर्माण (Policy-making) :** सचिवालय वस्तुत: नीति-निर्माण की प्रमुख संस्था है। यहाँ नई नीतियाँ बनती हैं, पुरानी संशोधित होती हैं तथा कुछ अनावश्यक व अनुपयोगी होने के कारण समाप्त हो जाती हैं। सरकार द्वारा व्यवस्था को समुचित रूप में बनाए रखने के लिये कुछ नीतियाँ बनाई जाती हैं तो कुछ नीतियाँ व्यवस्था के सुधार से संबंधित होती हैं। जनकल्याण से संबंधित अनेक नीतियाँ चुनावों से पूर्व राजनीतिक दलों द्वारा घोषित की जाती हैं। उन स्वप्नों को

घर बैठे IAS/PCS की
संपूर्ण तैयारी करने के लिये
आपका स्वागत है

Drishti Learning App

पर

GET IT ON Google Play

अपने एंड्रॉयड फोन पर आज ही इंस्टॉल करें

ऐप की विशेषताएँ

- टीम दृष्टि द्वारा दी जाने वाली सभी सुविधाएँ एक ही मंच पर।
- ऑनलाइन, पेनड्राइव मोड में कक्षाएँ उपलब्ध।
- प्रिलिम्स और मेन्स की टेस्ट सीरीज़ भी ऐप के माध्यम से उपलब्ध।
- सभी पुस्तकें, मैगजीन, डिस्टेंस लर्निंग प्रोग्राम के नोट्स देखने व मंगवाने की सुविधा।

ऑनलाइन कोर्स की विशेषताएँ

- घर बैठे देश के सर्वोत्कृष्ट अध्यापकों से पढ़ने की सुविधा।
- अब दिल्ली या किसी बड़े शहर जाकर पढ़ने की मजबूरी नहीं।
- IAS और PCS के कोर्स उपलब्ध।
- ऑनलाइन कोर्स करने के बाद, क्लासरूम कोर्स में प्रवेश लेने पर शुल्क में विशेष छूट।
- हर क्लास अपनी सुविधा से 3 बार देखने की सुविधा।
- उत्तर लिखकर चेक कराने तथा संदेह-समाधान की व्यवस्था भी शीघ्र उपलब्ध।
- कई विषयों के कोर्स ऑनलाइन और पेनड्राइव मोड में भी उपलब्ध।

दृष्टि आई.ए.एस. (दिल्ली शाखा) का पता
8448485519, 87501 87501,
011-47532596

दृष्टि आई.ए.एस. (प्रयागराज शाखा) का पता
8448485518, 8750187501, 8929439702

दृष्टि आई.ए.एस. (राजस्थान शाखा) का पता
8448485518, 8750187501, 8929439702

दृष्टि पब्लिकेशन्स की प्रमुख पुस्तकें

प्रिलिम्स प्रैक्टिस सीरीज़ की पुस्तकें

RAS Book सीरीज़ की पुस्तकें

641, Ist Floor, Dr. Mukherji Nagar, Delhi-9
Ph.: 011-47532596, 87501 87501
Website: www.drishtiias.com
E-mail: booksteam@groupdrishti.com

मूल्य : ₹480